साधारणभाषाटीकासहित

श्रीमद्भगवद्गीता

मोटे अक्षरवाली

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमद्भगवद्गीता
मोटे अक्षरवाली

मुद्रक तथा प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कुल ६,५०,२५०
छः लाख पचास हजार दो सौ पचास

मूल्य–अजिल्द एक रुपया पचीस पैसे
सजिल्द एक रुपया पचास पैसे

पता–गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीगीताजीकी महिमा

वास्तवमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य वाणीद्वारा वर्णन करनेके लिये किसीका भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें संपूर्ण वेदोंका सार-सार संग्रह किया गया है, इसका संस्कृत इतना सुन्दर और सरल है कि, थोडा अभ्यास करनेसे मनुष्य उसको सहज ही समझ सकता है, परंतु इसका आशय इतना गम्भीर है कि, आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, इससे यह सदा ही नवीन बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा, भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और मर्मका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थोंमें मिलना कठिन है; क्योंकि प्रायः ग्रन्थोंमें कुछ-न-कुछ सांसारिक विषय मिला रहता है, परंतु "श्रीमद्भगवद्गीता" एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र भगवान्‌ने कहा है कि जिसमें एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। इसीलिये श्रीवेदव्यासजीने महाभारतमें गीताजीका वर्णन करनेके उपरान्त कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

गीता सुगीता करनेयोग्य है, अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णुभगवान्के मुखारविन्दसे निकली हुई है, (फिर) अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ? तथा स्वयं भगवान्ने भी इसका माहात्म्य अन्तमें वर्णन किया है। (अ० १८ श्लोक ६८ से ७१ तक)

इस गीताशास्त्रमें मनुष्यमात्रका अधिकार है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रममें स्थित होवे; परंतु भगवान्में श्रद्धालु और भक्तियुक्त अवश्य होना चाहिये; क्योंकि अपने भक्तोंमें ही इसका प्रचार करनेके लिये भगवान्ने आज्ञा दी है तथा यह भी कहा है कि स्त्री, वैश्य, शूद्र और पाप-योनिवाले मनुष्य भी मेरे परायण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं (अ० ९ श्लोक ३२) एवं अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा मेरी पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं (अ० १८ श्लोक ४६)। इन सबपर विचार करनेसे यही ज्ञात होता है कि परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका अधिकार है।

परंतु उक्त विषयके मर्मको न समझनेके कारण बहुत-से मनुष्य जिन्होंने श्रीगीताजीका केवल नाममात्र ही सुना है, वे कह दिया करते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये ही है और वे अपने बालकोंको भी इसी भयसे श्रीगीताजीका अभ्यास नहीं कराते कि गीताके ज्ञानसे

कदाचित् लड़का घर छोड़कर संन्यासी न हो जाय, किंतु उनको विचार करना चाहिये कि मोहके कारण अपने क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये तैयार हुए अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीताशास्त्रका यह उलटा परिणाम किस प्रकार हो सकता है।

अतएव कल्याणकी इच्छावाले मनुष्योंको उचित है कि मोहको त्याग करके अतिशय श्रद्धा, भक्तिपूर्वक अपने बालकोंको अर्थ और भावके सहित श्रीगीताजीका अध्ययन करावें एवं स्वयं भी इसका पठन और मनन करते हुए भगवान्‌के आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर हो जायँ। क्योंकि अति दुर्लभ मनुष्यके शरीरको प्राप्त होकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी दुःखमूलक क्षणभङ्गुर भोगोंके भोगनेमें नष्ट करना उचित नहीं है।

श्रीगीताका प्रधान विषय

श्रीगीताजीमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मुख्य दो मार्ग बताये हैं। एक सांख्ययोग, दूसरा कर्मयोग। उनमें—

(१) संपूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप संपूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रियों

अर्थ—जिसकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनाग-की शय्यापर शयन किये हुए है, जिसकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंका भी ईश्वर और संपूर्ण जगत्का आधार है, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त है, नील मेघके समान जिसका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिसके संपूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किया जाता है, जो संपूर्ण लोकोंका स्वामी है, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करने-वाला है, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति, कमलनेत्र विष्णुभगवान्को मैं (सिरसे) प्रणाम करता हूँ ।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अर्थ—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, सामवेदके गानेवाले अङ्ग; पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिसका गायन करते हैं, योगीजन ध्यानमें स्थित तद्गत हुए मनसे जिसका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिसके अन्तको नहीं जानते, उस (परम पुरुष नारायण) देवके लिये मेरा नमस्कार है ।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रधान विषयोंकी अनुक्रमणिका

अर्जुनविषादयोग-नामक पहिला अध्याय ॥१॥

श्लोक	विषय
१–११	दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान शूरवीरोंकी गणना और सामर्थ्यका कथन ।
१२–१९	दोनों सेनाओंकी शङ्खध्वनिका कथन ।
२०–२७	अर्जुनद्वारा सेनानिरीक्षणका प्रसङ्ग ।
२८–४७	मोहसे व्याप्त हुए अर्जुनके कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन ।

सांख्ययोग-नामक दूसरा अध्याय ॥२॥

श्लोक	विषय
१–१०	अर्जुनकी कायरताके विषयमें श्रीकृष्णार्जुनका संवाद ।
११–३०	सांख्ययोगका विषय ।
३१–३८	क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकताका निरूपण ।

कर्मयोग-नामक तीसरा अध्याय ॥३॥

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग-नामक चौथा अध्याय ॥४॥

अक्षरब्रह्मयोग-नामक आठवाँ अध्याय ॥८॥

राजविद्याराजगुह्ययोग-नामक नवाँ अध्याय ॥९॥

विभूतियोग-नामक दसवाँ अध्याय ॥१०॥

विश्वरूपदर्शनयोग-नामक ग्यारहवाँ अध्याय॥११॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

भाषाटीकासहित

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोला, हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

इसपर संजय बोला, उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले युद्धमें भीम और अर्जुनके समान बहुत-से शूरवीर हैं, जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा,

सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र यह सब ही महारथी हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्षमें भी जो-जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये, आपके जाननेके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको कहता हूँ ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एक तो स्वयम् आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

तथा और भी बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्र-अस्त्रोंसे युक्त मेरे लिये जीवनकी आशाको त्यागनेवाले सब-के-सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

और भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सब-के-सब ही निःसन्देह भीष्म-पितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

इस प्रकार द्रोणाचार्यसे कहते हुए दुर्योधनके वचनोंको सुनकर कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वरसे सिंहकी नादके समान गर्जकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके उपरान्त शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे, उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

उनमें, श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्य-नामक शङ्ख और अर्जुनने देवदत्त-नामक शङ्ख बजाया, भयानक कर्म-वाले भीमसेनने पौण्ड्र-नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय-नामक

शङ्ख और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामवाले शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ धनुषवाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

तथा राजा द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने हे राजन् ! अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथिवीको भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन्! उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुनने खड़े हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंको देखकर उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा, हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जबतक मैं इन स्थित हुए युद्धकी कामनावालोंको अच्छी प्रकार देख लूँ कि, इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

और दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें कल्याण चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, उन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय बोला, हे धृतराष्ट्र! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराजश्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने और संपूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके ऐसे कहा कि हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख ॥ २४-२५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित हुए पिताके भाइयोंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामोंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥२६-२७॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

इस प्रकार उन खड़े हुए संपूर्ण बन्धुओंको देखकर वह अत्यन्त करुणासे युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला ॥२७-२८॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

हे कृष्ण ! इस युद्धकी इच्छावाले खड़े हुए स्वजन-समुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्च होता है ॥ २८-२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

तथा हाथसे गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

और हे केशव! लक्षणोंको भी विपरीत ही देखता हूँ तथा युद्धमें अपने कुलको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

और हे कृष्ण! मैं विजयको नहीं चाहता और राज्य तथा सुखोंको भी नहीं चाहता, हे गोविन्द! हमें राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा भोगोंसे और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

क्योंकि हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादिक इच्छित हैं, वे ही यह सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

जो कि, गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

इसलिये हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीन लोकके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथिवीके लिये तो कहना ही क्या है। ३५।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

इससे हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रों-को मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए यह लोग कुलके नाश-

कृत दोषको और मित्रोंके साथ विरोध करनेमें पापको नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

परंतु हे जनार्दन ! कुलके नाश करनेसे होते हुए दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

क्योंकि कुलके नाश होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश होनेसे संपूर्ण कुलको पाप भी बहुत दबा लेता है ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

तथा हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

और वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लोप हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितरलोग भी गिर जाते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

और इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

तथा हे जनार्दन! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्यों-का अनन्त कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो! शोक है कि, हमलोग बुद्धिमान् होकर भी

महान् पाप करनेको तैयार हुए हैं, जो कि, राज्य और सुखके लोभसे अपने कुलको मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवालेको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मारें तो वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोला कि, रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषाद-योगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोला कि, पूर्वोक्त प्रकारसे करुणा करके व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! तुमको इस विषमस्थलमें यह अज्ञान किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न स्वर्गको देनेवाला है, न कीर्तिको करनेवाला है ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

इसलिये, हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो,

यह तेरेमें योग्य नहीं है, हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

तब अर्जुन बोला कि, हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके प्रति किस प्रकार बाणों करके युद्ध करूँगा, क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूँ, क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

और हमलोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

इसलिये कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिये कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक धनधान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी, मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो कि मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोला, हे राजन् ! निद्राको जीतनेवाला अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्को युद्ध नहीं करूँगा, ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

उसके उपरान्त हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! अन्तर्यामी

श्रीकृष्ण महाराजने दोनों सेनाओंके बीचमें उस शोकयुक्त अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन कहा ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! तूँ न शोक करने योग्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है, परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी नहीं शोक करते हैं ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

क्योंकि आत्मा नित्य है, इसलिये शोक करना अयुक्त है । वास्तवमें, न तो ऐसा ही है कि, मैं किसी कालमें नहीं था अथवा तूँ नहीं था अथवा यह राजा-लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि, इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

किन्तु, जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष नहीं मोहित होता है, अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा अवस्थारूप स्थूल शरीरका विकार अज्ञानसे आत्मामें भासता है वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही आत्मामें भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष इस विषयमें नहीं मोहित होता है ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको तूँ सहन कर ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझने-वाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्षके लिये योग्य होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

और हे अर्जुन ! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनों-का ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

इस न्यायके अनुसार, नाशरहित तो उसको जान कि जिससे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है; क्योंकि इस अविनाशीका विनाश करनेको कोई भी समर्थ नहीं है ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

और इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा-के यह सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तूँ युद्ध कर ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

और जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं; क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीरके नाश होनेपर भी यह नाश नहीं होता है ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको

नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

और यदि तूँ कहे कि मैं तो शरीरोंके वियोगका शोक करता हूँ, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों-को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

और हे अर्जुन ! इस आत्माको शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको आग नहीं जला सकती है तथा इसको जल नहीं गीला कर सकते हैं और वायु नहीं सुखा सकता है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंका अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मनका अविषय और यह आत्मा विकाररहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है, इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको ऐसा जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू इसको सदा जन्मने और सदा मरनेवाला माने तो भी, हे अर्जुन ! इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि ऐसा होनेसे तो जन्मनेवालेकी निश्चित मृत्यु और मरनेवालेका निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ, इससे भी तूँ इस बिना उपायवाले विषयमें शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

और यह भीष्मादिकोंके शरीर मायामय होनेसे अनित्य हैं, इससे शरीरोंके लिये भी शोक करना उचित नहीं, क्योंकि हे अर्जुन ! संपूर्ण प्राणी जन्मसे पहिले विना शरीरवाले और मरनेके बाद भी बिना शरीरवाले ही हैं, केवल बीचमें ही शरीरवाले प्रतीत होते हैं, फिर उस विषयमें क्या चिन्ता है ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

और हे अर्जुन ! यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्यकी ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता। २९।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है* इसलिये संपूर्ण भूतप्राणियोंके लिये तूँ शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। ३१।

और अपने धर्मको देखकर भी तूँ भय करनेको योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रियके लिये नहीं है ॥ ३१॥

* जिसका वध नहीं किया जा सके।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

और हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्रामको नहीं करेगा तो स्वधर्मको और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

और सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिको भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुषके लिये मरणसे भी अधिक बुरी होती है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

और जिनके तूँ बहुत माननीय होकर भी अब तुच्छताको प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भयके

कारण युद्धसे उपराम हुआ मानेंगे ॥ २५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।३६।

और तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-से न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ? ॥ २६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।३७।

इससे युद्ध करना तेरे लिये सब प्रकारसे अच्छा है, क्योंकि या तो मरकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वीको भोगेगा, इससे हे अर्जुन ! युद्धके लिये निश्चयवाला होकर खड़ा हो ॥ २७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्यकी इच्छा न हो तो भी सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर उसके उपरान्त युद्धके लिये तैयार हो, इस प्रकार युद्ध करनेसे तूँ पापको नहीं प्राप्त होगा॥ ३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।३९।

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके* विषयमें कही गयी और इसीको अब निष्काम कर्मयोगके† विषयमें सुन कि जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तूँ कर्मोंके बन्धनको अच्छी तरहसे नाश करेगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

और इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता है, इसलिये इस निष्काम कर्मयोग-रूप धर्मका थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।४१।

और हे अर्जुन ! इस कल्याणमार्गमें निश्चयात्मक

*-† अध्याय ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

बुद्धि एक ही है और अज्ञानी (सकामी) पुरुषोंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली अनन्त होती हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

और हे अर्जुन ! जो सकामी पुरुष केवल फल-श्रुतिमें प्रीति रखनेवाले, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ माननेवाले, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है ऐसे कहनेवाले हैं, वे अविवेकी जन जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्यको प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंके विस्तारवाली, इस प्रकारकी जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहते हैं ॥ ४२-४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

उस वाणीद्वारा हरे हुए चित्तवाले तथा भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तिवाले, उन पुरुषोंके अन्तःकरणमें निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

और हे अर्जुन ! सब वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको विषय करनेवाले अर्थात् प्रकाश करनेवाले हैं, इसलिये तूँ असंसारी अर्थात् निष्कामी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तुमें स्थित तथा योग*-क्षेमको† न चाहनेवाला और आत्मपरायण हो ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

क्योंकि मनुष्यका सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मणका भी सब वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् जैसे बड़े जलाशयके प्राप्त हो जानेपर जलके लिये छोटे जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होनेपर आनन्दके

---

* अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है ।

† प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है ।

लिये वेदोंकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

इससे तेरा कर्म करनेमात्रमें ही अधिकार होवे, फलमें कभी नहीं और तूँ कर्मोंके फलकी वासनावाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न होवे॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

हे धनंजय ! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर, यह समत्वभाव* ही योग नामसे कहा जाता है ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये हे धनंजय ! समत्वबुद्धियोगका

* जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है ।

आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलकी वासनावाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

और समत्वबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य, पाप दोनोंको इस लोकमें ही त्याग देता है अर्थात् उनसे लिपायमान नहीं होता, इससे समत्वबुद्धियोगके लिये ही चेष्टा कर, यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है, अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

क्योंकि बुद्धियोगयुक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे छूटे हुए, निर्दोष अर्थात् अमृतमय परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें तेरी बुद्धि मोह-

रूप दलदलको बिल्कुल तर जायगी तब तूँ सुनने योग्य और सुने हुएके वैराग्यको प्राप्त होगा ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

और जब तेरी अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर ठहर जायगी तब तूँ समत्वरूप योगको प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा, हे केशव ! समाधिमें स्थित स्थिरबुद्धिवाले पुरुषका क्या लक्षण है ? और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ? ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित संपूर्ण कामनाओंको त्याग देता है, उस कालमें आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट हुआ स्थिरबुद्धिवाला कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

तथा दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखोंकी प्राप्तिमें दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

और जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ, उस-उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओंको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

और कछुआ अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओरसे अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

यद्यपि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु राग नहीं निवृत्त होता और इस पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

और हे अर्जुन ! जिससे कि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको यह प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि उन संपूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।६२।

और हे अर्जुन ! मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण न होनेसे मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है और विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

और क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश

होनेसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परंतु स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष रागद्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छताको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

और उस निर्मलताके होनेपर इसके संपूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

और हे अर्जुन! साधनरहित पुरुषके अन्तःकरणमें श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और उस अयुक्तके अन्तःकरणमें आस्तिकभाव भी नहीं होता है और बिना

आस्तिकभाववाले पुरुषको शान्ति भी नहीं होती, फिर शान्तिरहित पुरुषको सुख कैसे हो सकता है ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

क्योंकि जलमें वायु नावको जैसे हर लेता है वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंके बीचमें जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हरण कर लेती है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।६८।

इससे हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ सब प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे वशमें की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

और हे अर्जुन ! संपूर्ण भूतप्राणियोंके लिये जो रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्दमें भगवत्को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और

जिस नाशवान्, क्षणभंगुर सांसारिक सुखमें सब भूत-प्राणी जागते हैं, तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रि है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

और जैसे सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रके प्रति नाना नदियोंके जल, उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि पुरुषके प्रति संपूर्ण भोग किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परमशान्तिको प्राप्त होता है, न कि भोगोंको चाहनेवाला ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

क्योंकि जो पुरुष संपूर्ण कामनाओंको त्यागकर, ममतारहित और अहंकाररहित, स्पृहारहित हुआ

वर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर मोहित नहीं होता है और अन्तकालमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

इसपर अर्जुनने प्रश्न किया, कि हे जनार्दन ! यदि कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयङ्कर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

तथा आप मिले हुए-से वचनसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी करते हैं, इसलिये उस एक बातको निश्चय करके कहिये, कि जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा* मेरेद्वारा पहिले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे† और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे‡ ॥ ३ ॥

* साधनकी परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठाका नाम 'निष्ठा' है ।

† मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा, होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेका नाम 'ज्ञानयोग' है । इसीको 'संन्यास', 'सांख्ययोग' इत्यादि नामोंसे कहा है ।

‡ फल और आसक्तिको त्यागकर, भगवत्-आज्ञानुसार केवल

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

परन्तु किसी भी मार्गके अनुसार कर्मोंको स्वरूप-से त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मोंके न करनेसे निष्कर्मताको* प्राप्त होता है और न कर्मोंको त्यागनेमात्रसे भगवत्-साक्षात्कार-रूप सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

तथा सर्वथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षण-मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है, निःसन्देह

भगवत्-अर्थ समत्वबुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है । इसीको 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है ।

* जिस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्थाका नाम 'निष्कर्मता' है ।

सब ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

इसलिये जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर, इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके, अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग-का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिये तूँ शास्त्रविधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको कर, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीरनिर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

और हे अर्जुन ! बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है, क्योंकि यज्ञ अर्थात् विष्णुके निमित्त किये हुए कर्मके सिवाय, अन्य कर्ममें लगा हुआ ही यह मनुष्य, कर्मोंद्वारा बँधता है, इसलिये हे अर्जुन ! आसक्तिसे रहित हुआ, उस परमेश्वरके निमित्त, कर्मका भली प्रकार आचरण कर ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

तथा कर्म न करनेसे तूँ पापको भी प्राप्त होगा, क्योंकि प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाको रचकर कहा, कि इस यज्ञद्वारा तुमलोग वृद्धिको प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित कामनाओंके देनेवाला होवे ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तथा तुम लोग, इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति

करो और वे देवतालोग तुमलोगोंकी उन्नति करें, इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होवोगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

तथा यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए देवतालोग तुम्हारे लिये बिना माँगे ही प्रिय भोगोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष इनके लिये बिना दिये ही भोगता है, वह निश्चय चोर है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

कारण, कि यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापीलोग अपने शरीर-पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और

अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वृष्टि यज्ञसे होती है और वह यज्ञ कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है॥ १४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तथा उस कर्मको तूँ वेदसे उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी परम अक्षर, परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार चलाये हुए सृष्टिचक्रके अनुसार नहीं बर्तता है, अर्थात् शास्त्र-अनुसार कर्मोंको नहीं करता है, वह इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परंतु जो मनुष्य आत्माहीमें प्रीतिवाला और आत्माहीमें तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

क्योंकि इस संसारमें उस पुरुषका किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है, और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है, तथा इसका सम्पूर्ण भूतों-में कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है, तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इससे तूँ अनासक्त हुआ, निरन्तर कर्तव्य कर्म-का अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष, कर्म करता हुआ, परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

*

इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति-रहित कर्मद्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखता हुआ भी, तूँ कर्म करनेको ही योग्य है ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

इसलिये हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित् कर्ममें न वर्तूं तो हे अर्जुन! सब प्रकारसे मनुष्य मेरे बर्तावके अनुसार वर्तते हैं, अर्थात् बर्तने लग जायँ ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

तथा यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरका करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजाको हनन करूँ, अर्थात् मारनेवाला बनूँ ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

इसलिये हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

तथा ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि, कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा

उत्पन्न न करे, किंतु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ और सब कर्मोंको अच्छी प्रकार करता हुआ, उनसे भी वैसे ही करावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

और हे अर्जुन ! वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकारसे मोहित हुआ अन्तःकरणवाला पुरुष, मैं कर्ता हूँ ऐसे मान लेता है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परंतु हे महाबाहो ! गुणविभाग * और कर्मविभागके † तत्त्वको ‡ जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण

*-† त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है ।

‡ उपरोक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग' से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है ।

गुण गुणोंमें बर्तते हैं ऐसे मानकर नहीं आसक्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

और प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं, उन अच्छी प्रकार न समझनेवाले मूर्खोंको अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ ध्याननिष्ठ चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशारहित और ममतारहित होकर, संतापरहित हुआ युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

और हे अर्जुन ! जो कोई भी मनुष्य दोषबुद्धिसे रहित और श्रद्धासे युक्त हुए सदा ही मेरे इस मतके अनुसार बर्तते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

और जो दोषदृष्टिवाले मूर्ख लोग इस मेरे मतके अनुसार नहीं बर्तते हैं, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित चित्तवालोंको तूँ कल्याणसे भ्रष्ट हुए ही जान ॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।३३।

क्योंकि सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित, जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे, क्योंकि इसके वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं॥

यह ही महाअशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तूँ वैरी जान ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएँ-से अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन! इस अग्निसदृश न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीसे ज्ञान ढका हुआ है॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

तथा इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा ही, ज्ञानको आच्छादित करके इस जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ पहिले इन्द्रियोंको वशमें करके, ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले इस काम पापीको निश्चयपूर्वक मार ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

और यदि तूँ समझे कि इन्द्रियोंको रोककर कामरूप वैरीको मारनेकी मेरी शक्ति नहीं है तो तेरी यह भूल है, क्योंकि इस शरीरसे तो इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर और बुद्धिके

द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो ! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्णमहाराज बोले, हे अर्जुन ! मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था और सूर्यने अपने पुत्र मनुके प्रति कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुके प्रति कहा ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना, परन्तु हे अर्जुन ! वह योग बहुत कालसे इस पृथिवीलोकमें लोप प्रायः हो गया था ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है, क्योंकि तूँ मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये तथा वह योग बहुत उत्तम और रहस्य अर्थात् अति मर्मका विषय है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके वचन सुनकर, अर्जुनने पूछा, हे भगवन् ! आपका जन्म तो आधुनिक अर्थात् अब हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है, इसलिये इस योगको कल्पके आदिमें आपने कहा था यह मैं कैसे जानूँ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

इसपर श्रीकृष्णमहाराज बोले, हे अर्जुन ! मेरे और

तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, परंतु हे परंतप ! उन सबको तूँ नहीं जानता है और मैं जानता हूँ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

तथा मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है, मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ, अर्थात् प्रकट करता हूँ ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

क्योंकि साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये, युग-युगमें प्रकट होता हूँ ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

इसलिये, हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे* जानता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

और हे अर्जुन ! पहिले भी, राग, भय और क्रोधसे रहित अनन्यभावसे मेरेमें स्थितिवाले मेरे शरण हुए बहुत-से पुरुष, ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

---

* सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम गति तथा परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मको स्थापन करने और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं, इसलिये परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित संसारमें वर्तता है, वही उनको तत्त्वसे जानता है ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ, इस रहस्यको जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

और जो मेरेको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, वे पुरुष, इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहते हुए देवताओंको पूजते हैं और उनके कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि भी शीघ्र ही होती है, परंतु उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये तूँ मेरेको ही सब प्रकारसे भज ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

तथा हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेद्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ता-को भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तूँ अकर्ता ही जान॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मेरेको कर्म लिपायमान नहीं करते, इस प्रकार जो मेरेको तत्त्वसे जानता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

तथा पहिले होनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है, इससे तूँ भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये हुए कर्मको ही कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

परंतु कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? ऐसे इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं, इसलिये मैं, वह कर्म अर्थात् कर्मोंका तत्त्व तेरे लिये अच्छी प्रकार कहूँगा, कि जिसको जानकर तूँ अशुभ अर्थात् संसारबन्धनसे छूट जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो पुरुष कर्ममें अर्थात् अहंकाररहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओंमें, अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होनापना देखे और जो पुरुष अकर्ममें अर्थात् अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी, कर्मको अर्थात् त्यागरूप क्रियाको देखे, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

और हे अर्जुन ! जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए

समत्वभाववाला पुरुष कर्मोंको करके भी नहीं बँधता है ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

क्योंकि आसक्तिसे रहित ज्ञानमें स्थित हुए चित्तवाले यज्ञके लिये आचरण करते हुए, मुक्त पुरुषके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

उन यज्ञके लिये आचरण करनेवाले पुरुषोंमेंसे कोई तो इस भावसे यज्ञ करते हैं, कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक भी ब्रह्म है और हवि अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हुए उस पुरुषद्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

और दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञको ही अच्छी प्रकार उपासते हैं, अर्थात् करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञको हवन करते हैं* ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सब इन्द्रियोंको संयम अर्थात् स्वाधीनतारूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अपने वशमें कर लेते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् रागद्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको ग्रहण करते हुए भी भस्मरूप करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

और दूसरे योगीजन संपूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टाओं-

* परब्रह्म परमात्मामें ज्ञानद्वारा एकीभावसे स्थित होना ही, ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है ।

को तथा प्राणोंके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित हुई, परमात्मामें स्थितिरूप योगाग्निमें हवन करते हैं* ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

और दूसरे कई पुरुष ईश्वर-अर्पण बुद्धिसे लोक-सेवामें द्रव्य लगानेवाले हैं, वैसे ही कई पुरुष स्वधर्म-पालनरूप तप-यज्ञको करनेवाले हैं और कई अष्टाङ्ग योगरूप यज्ञको करनेवाले हैं और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष भगवान्के नामका जप तथा भगवत्-प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञके करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥

और दूसरे योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं, तथा अन्य योगीजन प्राण और अपानकी

---

* सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय अन्य किसीका भी न चिन्तन करना ही उन सबका हवन करना है ।

गतिको रोककर प्राणायामके परायण होते हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

और दूसरे नियमित आहार* करनेवाले योगीजन प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं, इस प्रकार यज्ञोंद्वारा नाश हो गया है पाप जिनका, ऐसे यह सब ही पुरुष यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

और हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञोंके परिणामरूप ज्ञानामृतको भोगनेवाले योगीजन, सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञरहित पुरुषको यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

---

* गीता अध्याय ६ श्लोक १७ में देखना चाहिये ।

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंकी क्रिया-द्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

और हे अर्जुन ! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले यज्ञसे ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

कि, जिसको जानकर तूँ फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा और हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतनरूप हुआ अपने अन्तर्गत* समष्टि बुद्धिके आधार सम्पूर्ण भूतोंको देखेगा और उसके उपरान्त मेरेमें† अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपमें एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

और यदि तूँ सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापोंको अच्छी प्रकार तर जायगा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

क्योंकि, हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धन-

---

* गीता अध्याय ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये ।

† गीता अध्याय ६ श्लोक ३० में देखना चाहिये ।

को भस्ममय कर देता है; वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥

इसलिये, इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है, उस ज्ञानको कितनेक कालसे अपने-आप समत्व बुद्धिरूप योगके द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मामें अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

और हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

और हे अर्जुन ! भगवत्-विषयको न जाननेवाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थसे भ्रष्ट हो

जाता है, उनमें भी संशययुक्त पुरुषके लिये तो न सुख है और न यह लोक है, न परलोक है, अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिये भ्रष्ट हो जाते हैं। ४०।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

और हे धनंजय ! समत्वबुद्धिरूप योगद्वारा भगवत्-अर्पण कर दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने और ज्ञानद्वारा नष्ट हो गये हैं सब संशय जिसके, ऐसे परमात्मपरायण पुरुषको कर्म नहीं बाँधते हैं ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

इससे हे भरतवंशी अर्जुन ! तूँ समत्वबुद्धिरूप योगमें स्थित हो और अज्ञानसे उत्पन्न हुए, हृदयमें स्थित इस अपने संशयको ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके युद्धके लिये खड़ा हो ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।४।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

उसके उपरान्त अर्जुनने पूछा, हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनोंमें एक जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक होवे, उसको मेरे लिये कहिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णमहाराज बोले, हे अर्जुन ! कर्मोंका संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग और निष्काम कर्मयोग अर्थात् समत्वबुद्धिसे भगवत्-अर्थ कर्मोंका करना, यह दोनों ही परम

कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मोंके संन्याससे निष्काम कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

इसलिये हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्काम कर्मयोगको मूर्ख लोग अलग-अलग फलवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

तथा ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको फलरूपसे एक देखता है, वह ही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परंतु हे अर्जुन ! निष्काम कर्मयोगके बिना, संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

तथा वशमें किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा

जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरणवाला एवं संपूर्ण प्राणियोंके आत्मरूप परमात्मामें एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

और हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मीचता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसन्देह ऐसा माने, कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८, ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

परंतु हे अर्जुन ! देहाभिमानियोंद्वारा यह साधन होना कठिन है और निष्काम कर्मयोग सुगम है, क्योंकि जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी सदृश पापसे लिपायमान नहीं होता ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

इसलिये निष्काम कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

इसीसे निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वर-के अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलमें आसक्त हुआ कामनाके द्वारा बँधता है, इसलिये निष्काम कर्मयोग उत्तम है ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

और हे अर्जुन ! वशमें है अन्तःकरण जिसके ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष तो, निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर, अर्थात् इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थोंमें बर्तती हैं ऐसे मानता हुआ, आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

और परमेश्वर भी भूतप्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मोंको तथा न कर्मोंके फलके संयोगको वास्तवमें रचता है, किन्तु परमात्माके सकाशसे प्रकृति ही बर्तती है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

और सर्वव्यापी परमात्मा, न किसीके पाप-कर्मको और न किसीके शुभकर्मको भी ग्रहण करता है, किंतु मायाके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परंतु जिनका वह अन्तःकरणका अज्ञान आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशता है, अर्थात् परमात्माके स्वरूपको साक्षात् कराता है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

और हे अर्जुन ! तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं॥ १७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले* ही होते हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इसलिये जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

---

* इसका विस्तार गीता अध्याय ६ श्लोक ३२ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

और जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिर-बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

और बाहरके विषयोंमें अर्थात् सांसारिक भोगोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष, अन्तःकरणमें जो भगवत्-ध्यानजनित आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योगमें एकीभावसे स्थित हुआ अक्षय आनन्दको अनुभव करता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

और जो यह इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप

भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य शरीरके नाश होनेसे पहिले ही काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सहन करनेमें समर्थ है, अर्थात् काम-क्रोधको जिसने सदाके लिये जीत लिया है, वह मनुष्य इस लोकमें योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो पुरुष निश्चय करके अन्तरात्मामें ही सुख-वाला है और आत्मामें ही आरामवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, ऐसा वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

और नाश हो गये हैं सब पाप जिनके तथा ज्ञान करके निवृत्त हो गया है संशय जिनका और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके हितमें है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवान्‌के ध्यानमें चित्त जिनका, ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

और काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

और हे अर्जुन ! बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही त्यागकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करके तथा नासिकामें

विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

जीती हुई हैं इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जिसकी, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि* इच्छा, भय और क्रोधसे रहित है वह सदा मुक्त ही है ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

और हे अर्जुन ! मेरा भक्त मेरेको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है और सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण शान्त ब्रह्मके सिवाय उसकी दृष्टिमें और कुछ भी नहीं रहता, केवल वासुदेव ही वासुदेव रह जाता है ॥ २९ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

* परमेश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला ।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्णमहाराज बोले, हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्निको त्यागनेवाला संन्यासी, योगी नहीं है तथा केवल क्रियाओंको त्यागनेवाला भी संन्यासी, योगी नहीं है ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! जिसको संन्यास* ऐसा कहते हैं, उसीको तूँ योग† जान, क्योंकि संकल्पोंको न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

---

*-† गीता अ० ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका खुलासा अर्थ लिखा है ।

और समत्व बुद्धिरूप योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा है और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषके लिये सर्वसंकल्पोंका अभाव ही कल्याणमें हेतु कहा है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

और जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

और यह योगारूढता कल्याणमें हेतु कही है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि, अपनेद्वारा आपका संसारसमुद्रसे उद्धार करे और अपने आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है, अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र

नहीं है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है, कि जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों-सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसका वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादिकों-में तथा मान और अपमानमें, जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ अच्छी प्रकार शान्त हैं, अर्थात् विकाररहित हैं ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्द-घन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है अन्तःकरण जिसका तथा विकाररहित है स्थिति जिसकी और अच्छी प्रकार जीती हुई हैं इन्द्रियाँ जिसकी तथा समान है मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जिसके, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्‌की प्राप्तिवाला है, ऐसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

और जो पुरुष सुहृद्*, मित्र, वैरी, उदासीन†, मध्यस्थ‡, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी, समान भाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

इसलिये उचित है कि, जिसका मन और इन्द्रियों-

* स्वार्थरहित सबका हित करनेवाला ।
† पक्षपातरहित ।
‡ दोनों ओरकी भलाई चाहनेवाला ।

सहित शरीर जीता हुआ है, ऐसा वासनारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित हुआ निरन्तर आत्माको परमेश्वरके ध्यानमें लगावे॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

कैसे कि शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसनको, न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किया हुआ अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥

उसकी विधि इस प्रकार है, कि काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़

होकर, अपने नासिकाके अग्रभागको देखकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

और ब्रह्मचर्यके व्रतमें स्थित रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला और सावधान होकर, मनको वशमें करके, मेरेमें लगे हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी, मेरेमें स्थितिरूप परमानन्द पराकाष्ठावाली शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

परंतु हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवालेका तथा न अति शयन करनेके स्वभाववालेका और न अत्यन्त

जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका तथा कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य शयन करने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

इस प्रकार योगके अभ्याससे अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त, जिस कालमें परमात्मामें ही भली प्रकार स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण कामनाओंसे स्पृहारहित हुआ पुरुष, योगयुक्त ऐसा कहा जाता है ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

और जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक नहीं चलायमान होता है, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए जीते हुए चित्तकी कही गयी है ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

और हे अर्जुन ! जिस अवस्थामें, योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमेश्वरके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि-द्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ, सच्चिदानन्द-घन परमात्मामें ही संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

तथा इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि-द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्स्वरूपसे नहीं चलायमान होता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।२२।

और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और

भगवत्प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे चलायमान नहीं होता है ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा । २३ ।

और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये, वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्। २५।

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको

प्राप्त होवे तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मा-में स्थित करके, परमात्माके सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

परंतु जिसका मन वशमें नहीं हुआ हो उसको चाहिये कि, यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस-उससे रोककर बारम्बार परमात्मामें ही निरोध करे । २६ ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

क्योंकि जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है और जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन/ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

और वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दको अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

और हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ

वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत* देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

और हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे† सम्पूर्ण

---

* गीता अध्याय ९ श्लोक ६ देखना चाहिये ।

† जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदादिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे, सुख और

भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है॥ ३ २॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वाक्योंको सुनकर अर्जुन बोला, हे मधुसूदन ! जो यह ध्यानयोग आपने समत्वभावसे कहा है, इसकी मैं मनके चञ्चल होनेसे बहुत कालतक ठहरनेवाली स्थितिको नहीं देखता हूँ ॥ ३ ३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३ ४॥

क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान् है, इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुकी भाँति अति दुष्कर मानता हूँ ३ ४ ॥

दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना "अपनी सादृश्यतासे" सम देखना है ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास* अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

क्योंकि मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

---

*गीता अ० १२ श्लोक ९ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये।

इसपर अर्जुन बोला, हे कृष्ण! योगसे चलायमान हो गया है मन जिसका, ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धा-युक्त पुरुष योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्-साक्षात्कारताको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है? ३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

और हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे अर्थात् भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगोंसे भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है? ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण! मेरे इस संशयको सम्पूर्णतासे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ॥ ३९ ॥

प्रकारका जो यह जन्म है, सो संसारमें निःसन्देह अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

और वह पुरुष, वहाँ उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धिके संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

और वह* विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवत्की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥

---

* यहाँ "वह" शब्दसे श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष समझना चाहिये ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

जब कि इस प्रकार मन्द प्रयत्न करनेवाला योगी भी परम गतिको प्राप्त हो जाता है, तब क्या कहना है, कि अनेक जन्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि-रूप सिद्धिको प्राप्त हुआ और अति प्रयत्नसे अभ्यास करनेवाला योगी सम्पूर्ण पापोंसे अच्छी प्रकार शुद्ध होकर, उस साधनके प्रभावसे परमगतिको प्राप्त होता है, अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

क्योंकि योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तूँ योगी हो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

और हे प्यारे ! सम्पूर्ण योगियोंसें भी जो श्रद्धावान्

योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मेरेको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! तूँ मेरेमें अनन्यप्रेमसे आसक्त हुए मनवाला और अनन्यभावसे मेरे परायण योगमें लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त सबका आत्मरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा उसको सुन॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

मैं तेरे लिये इस रहस्यसहित तत्त्वज्ञानको संपूर्णतासे कहूँगा, कि जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

परंतु हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है, अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार भी ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

सो यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है, अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरीको मेरी जीवरूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान, कि जिससे यह संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! तूं ऐसा समझ, कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पत्तिवाले हैं और मैं संपूर्ण जगत्का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत्का मूल कारण हूँ ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

इसलिये हे धनंजय ! मेरेसे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह संपूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुँथा हुआ है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

कैसे कि हे अर्जुन ! जलमें मैं रस हूं तथा चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ और संपूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ तथा आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूं ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

तथा पृथिवीमें पवित्र* गन्ध और अग्निमें तेज हूँ और संपूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं, वह मैं हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

तथा हे अर्जुन ! तू संपूर्ण भूतोंका सनातन कारण मेरेको ही जान, मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

और हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे इस प्रसङ्गमें इनके कारण-रूप तन्मात्राओंका ग्रहण है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है ।

तथा और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तूँ मेरेसे ही होनेवाले हैं, ऐसा जान, परंतु वास्तवमें* उनमें मैं और वे मेरेमें नहीं हैं ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

किन्तु गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकारके भावोंसे अर्थात् राग-द्वेषादि विकारोंसे और संपूर्ण विषयोंसे यह सब संसार मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको तत्त्वसे नहीं जानता ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष मेरेको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन

---

* गीता अध्याय ९ श्लोक ४-५ में देखना चाहिये ।

कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

ऐसा सुगम उपाय होनेपर भी मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग तो मेरेको नहीं भजते हैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

और हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी*, आर्त†, जिज्ञासु‡ और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मेरेको भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ

---

* सांसारिक पदार्थोंके लिये भजनेवाला ।

† सङ्कटनिवारणके लिये भजनेवाला ।

‡ मेरेको यथार्थरूपसे जाननेकी इच्छासे भजनेवाला ।

अनन्यप्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरेको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरेको अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

यद्यपि यह सब ही उदार हैं, अर्थात् श्रद्धासहित मेरे भजनके लिये समय लगानेवाले होनेसे उत्तम हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मेरेमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

और जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञान-को प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

और हे अर्जुन ! जो विषयासक्त पुरुष हैं वे तो अपने स्वभावसे प्रेरे हुए तथा उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा ज्ञानसे भ्रष्ट हुए उस-उस नियमको धारण करके, अर्थात् जिस देवताकी पूजाके लिये जो-जो नियम लोकमें प्रसिद्ध हैं उस-उस नियमको धारण करके, अन्य देवताओंको भजते हैं, अर्थात् पूजते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

तथा वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त हुआ, उस देवताके पूजनकी चेष्टा करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।२३।

परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें शेषमें वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

ऐसा होनेपर भी सब मनुष्य मेरा भजन नहीं करते, इसका कारण यह है कि बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अर्थात् जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं ऐसे अविनाशी परम भावको, अर्थात् अजन्मा, अविनाशी हुआ भी अपनी मायासे प्रकट होता हूँ, ऐसे प्रभावको तत्त्वसे न जानते हुए मन, इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर, व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

तथा अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है, अर्थात् मेरेको जन्मने, मरनेवाला समझता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

और हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमान-में स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मेरेको कोई भी श्रद्धा, भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

क्योंकि, हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुखदुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अति अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

*

परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे रागद्वेषादि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष मेरेको सब प्रकारसे भजते हैं ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।२९।

और जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको तथा सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

और जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित सबका आत्मरूप मेरेको जानते हैं, अर्थात् जैसे भाफ, बादल, धूम, पानी, और बर्फ यह सभी जलस्वरूप हैं, वैसे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ आदि सब कुछ वासुदेव-स्वरूप हैं, ऐसे जो जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले

पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते हैं, अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको न समझकर, अर्जुन बोला, हे पुरुषोत्तम ! जिसका आपने वर्णन किया, वह ब्रह्म क्या है ? और अध्यात्म क्या है ? तथा कर्म क्या है ? और अधिभूत नामसे क्या कहा गया है ? तथा अधिदैव नामसे क्या कहा जाता है ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

और हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? और युक्त चित्तवाले

पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हो ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्न करनेपर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं हो, ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो ब्रह्म है और अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा अध्यात्म नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला शास्त्रविहित यज्ञ, दान और होम आदिके निमित्त जो द्रव्यादिकोंका त्याग है, वह कर्म नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

तथा उत्पत्ति, विनाश धर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं और हिरण्यमय पुरुष* अधिदैव है और हे

* जिसको शास्त्रोंमें "सूत्रात्मा", "हिरण्यगर्भ", "प्रजापति", "ब्रह्मा" इत्यादि नामोंसे कहा है ।

देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही विष्णुरूपसे अधियज्ञ हूँ ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वाकलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।५।

और जो पुरुष अन्तकालमें मेरेको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

कारण कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है, परन्तु सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ।

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ, निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

और हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य तरफ न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष, परम प्रकाशस्वरूप, दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता*, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-

* अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाला ।

पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप, अविद्यासे अतिपरे, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्माको स्मरण करता है ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

वह भक्तियुक्त पुरुष, अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापन करके फिर निश्चलमनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्य-स्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

और हे अर्जुन! वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको ॐकार नामसे कहते हैं और आसक्तिरहित यत्नशील महात्माजन

जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

हे अर्जुन ! सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर, अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके और अपने प्राणको मस्तकमें स्थापन करके, योगधारणामें स्थित हुआ ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।१३।

जो पुरुष, ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरेको चिन्तन करता हुआ, शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरेमें अनन्यचित्तसे

स्थित हुआ, सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

और वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मेरेको प्राप्त होकर, दुःखके स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछा संसारमें आना पड़े ऐसे हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मेरेको प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है, क्योंकि मैं कालातीत हूँ और यह सब ब्रह्मादिकोंके लोक काल करके अवधिवाले होनेसे अनित्य हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्माका जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाला और रात्रिको भी हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, अर्थात् काल करके अवधिवाला होनेसे ब्रह्मलोकको भी अनित्य जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

इसलिये वे यह भी जानते हैं, कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें, अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है.

हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है ॥ १९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परंतु उस अव्यक्तसे भी अति परे, दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है वह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा, सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नहीं नष्ट होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

और जो वह अव्यक्त, अक्षर, ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं, वह मेरा परम धाम है ।२१।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्। २२।

और हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्व भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह

सब जगत् परिपूर्ण है* वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष, अनन्यभक्तिसे† प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें‡ शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन पीछा न आनेवाली गतिको और पीछा आनेवाली गतिको भी, प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् मार्गको कहूँगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

उन दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है और दिनका अभिमानी देवता है तथा शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस

---

* गीता अध्याय ९, श्लोक ४ में देखना चाहिये ।

† गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

‡ यहाँ काल शब्दसे मार्ग समझना चाहिये, क्योंकि आगेके श्लोकोंमें भगवान्ने इसका नाम "सृति", "गति" ऐसा कहा है ।

मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरको परोक्षभावसे जाननेवाले योगीजन, उपरोक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

तथा जिस मार्गमें, धूमाभिमानी देवता है और रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है, और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी, उपरोक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर, स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर, पीछा आता है ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

क्योंकि जगत्के यह दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने

गये हैं, इनमें एकके द्वारा गया हुआ* पीछा न आनेवाली परमगतिको प्राप्त होता है और दूसरेद्वारा गया हुआ † पीछा आता है, अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

और हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है, अर्थात् फिर वह निष्कामभावसे ही साधन करता है, कामनाओंमें नहीं फँसता, इस कारण हे अर्जुन ! तू सब कालमें समत्वबुद्धिरूप योगसे युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ।२७।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

* अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २४ के अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी ।

† अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २५ के अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

क्योंकि योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर, वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिकोंके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसन्देह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पदको प्राप्त होता है २८

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् । १ ।

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय ज्ञानको रहस्यके सहित कहूँगा, कि जिसको जानकर तूँ दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा । १ ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान सब विद्याओंका राजा तथा सब

गोपनीयोंका भी राजा एवं अति पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला और धर्मयुक्त है, साधन करनेको बड़ा सुगम और अविनाशी है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

और हे परंतप ! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मेरेको न प्राप्त होकर, मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत्, जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

और वे सब भूत मेरेमें स्थित नहीं हैं, किंतु मेरी योगमाया और प्रभावको देख, कि भूतोंका धारण-पोषण

करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

क्योंकि, जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ, सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है. वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं, ऐसे जान ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

और हे अर्जुन ! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ ॥७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

कैसे कि, अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके, स्वभावके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय-को बारम्बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ ॥८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश* स्थित हुए, मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते हैं ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

और हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

ऐसा होनेपर भी सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको† न जाननेवाले मूढलोग, मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते

---

* जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्वभावके बिना अपने-आप सत्तामात्रसे ही होते हैं, उसका नाम उदासीनके सदृश है ।

† गीता अध्याय ७ श्लोक २४ में देखना चाहिये ।

हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

जो कि वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले, अज्ञानीजन, राक्षसोंके और असुरोंके जैसे मोहित करनेवाले तामसी स्वभावको* ही धारण किये हुए हैं॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके† आश्रित हुए जो महात्माजन हैं, वे तो मेरेको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त हुए निरन्तर भजते हैं॥ १३ ॥

---

* जिसको आसुरी सम्पदाके नामसे विस्तारपूर्वक भगवान्‌ने गीता अध्याय १६ श्लोक ४ तथा श्लोक ७ से २१ तक कहा है।

† इसका विस्तारपूर्वक वर्णन गीता अध्याय १६ श्लोक १, २, ३ में देखना चाहिये।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

और वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मेरेको वारम्वार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त हुए, अनन्य भक्तिसे मुझे उपासते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन वहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

उनमें कोई तो मुझ विराट् स्वरूप परमात्माको ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए, एकत्वभावसे अर्थात् जो कुछ है, सव वासुदेव ही है, इस भावसे उपासते हैं और दूसरे पृथक्त्वभावसे अर्थात् स्वामी-सेवक-भावसे और कोई-कोई वहुत प्रकारसे भी उपासते हैं ॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

क्योंकि क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्म मैं हूँ, स्वधा अर्थात् पितरोंके

निमित्त दिया जानेवाला अन्न मैं हूँ, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूँ एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

और हे अर्जुन ! मैं ही, इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण, पोषण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जानने योग्य* पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

और हे अर्जुन ! प्राप्त होने योग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान और शरण लेने योग्य तथा प्रति-उपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति, प्रलयरूप तथा सबका आधार, निधान† और अविनाशी कारण भी

---

* गीता अ० १३ श्लोक १२ से लेकर १७ तकमें देखना चाहिये ।

† प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं उसका नाम 'निधान' है ।

मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

और मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूँ तथा वर्षाको आकर्षण करता हूँ और बरसाता हूँ और हे अर्जुन ! मै ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

परंतु जो तीनो वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले और सोमरसको पीनेवाले एवं पापोंसे पवित्र हुए पुरुष* मेरेको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्तिको चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप

---

* यहाँ स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे पवित्र होना समझना चाहिये ।

इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

और वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्य क्षीण होनेपर, मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने-आनेको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेसे मृत्युलोकमें आते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

और जो अनन्य भावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए, निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मेरेमें स्थितिवाले पुरुषोंका

योगक्षेम* मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

और हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त हुए जो सकामी भक्त, दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मेरेको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परंतु वे मुझ अधियज्ञस्वरूप परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, इसीसे गिरते हैं, अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

कारण, यह नियम है कि, देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले

---

* भगवत्के स्वरूपकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और भगवत्-प्राप्तिके निमित्त किये हुए साधनकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है ।

पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मेरेको ही प्राप्त होते हैं, इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता* ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

तथा हे अर्जुन ! मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र, पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर, प्रीतिसहित खाता हूँ ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

इसलिये, हे अर्जुन ! तूँ जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥

---

* गीता अध्याय ८ श्लोक १६ में देखना चाहिये ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

इस प्रकार कर्मोंको मेरे अर्पण करनेरूप संन्यास-योगसे युक्त हुए मनवाला तूँ शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त हुआ मेरेको ही प्राप्त होवेगा ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

यद्यपि, मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ* ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यःसम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

तथा और भी मेरी भक्तिका प्रभाव सुन, यदि

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि, साधनों द्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर, भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है ।

कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ, मेरेको निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीप्रकार निश्चय कर लिया है, कि परमेश्वर के भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन ! तूँ निश्चयपूर्वक सत्य जान, कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

फिर क्या कहना है, कि पुण्यशील ब्राह्मणजन तथा राजऋषि भक्तजन परमगतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये तूँ सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर, अर्थात् मनुष्य-शरीर बड़ा दुर्लभ है, परंतु है नाशवान् और सुखरहित, इसलिये कालका भरोसा न करके तथा अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषयभोगोंमें न फँसकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य, निरन्तर, अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेमसहित, निष्काम-भावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मुझ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डलादि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणि-धारी विष्णुका मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व

अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्व-शक्तिमान् विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक, भक्ति-सहित, साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तूँ आत्माको मेरेमें एकीभाव करके, मेरेको ही प्राप्त होवेगा ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी बोले, हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन श्रवण कर, जो कि मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको, न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

और जो मेरेको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्म-रहित और अनादि* तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष संपूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! निश्चय करनेकी शक्ति एवं तत्त्व-ज्ञान और अमूढ़ता, क्षमा, सत्य तथा इन्द्रियोंका

---

* अनादि उसको कहते हैं कि जो आदिरहित होवे और सबका कारण होवे ।

वशमें करना और मनका निग्रह तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति और प्रलय एवं भय और अभय भी ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप*, दान, कीर्ति और अपकीर्ति ऐसे यह प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मेरेसे ही होते हैं ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! सात तो महर्षिजन और चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु, यह मेरेमें भाववाले सब-के-सब, मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, कि जिनकी संसारमें यह संपूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

और जो पुरुष इस मेरी परमैश्वर्यरूप विभूतिको

* स्वधर्मके आचरणसे इन्द्रियादिको तपाकर शुद्ध करनेका नाम तप है ।

और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है*, वह पुरुष निश्चल ध्यानयोगद्वारा मेरेमें ही एकीभावसे स्थित होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मेरेसे ही सब जगत् चेष्टा करता है इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए, बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

और वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले† भक्तजन, सदा ही

---

* जो कुछ दृश्यमात्र संसार है, सो सब भगवान्की माया है और एक वासुदेव भगवान् ही सर्वत्र परिपूर्ण हैं, यह जानना ही तत्त्वसे जानना है ।

† मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका नाम है 'मद्गतप्राणाः' ।

मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

और हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही, मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ, अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

*

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर अर्जुन बोला, हे भगवन् ! आप परम ब्रह्म और परम धाम एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, वैसे ही देवऋषि नारद तथा असित और देवलऋषि तथा महर्षि व्यास और स्वयम् आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥ १२, १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

और हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन् ! आपके लीलामय* स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

* गीता अ० ४ श्लोक ६ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्‌के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयम् ही अपनेसे आपको जानते हैं ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

इसलिये हे भगवन् ! आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेके लिये योग्य हैं, कि जिन विभूतियोंके द्वारा इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावोंमें मेरेद्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।१८।

और हे जनार्दन ! अपनी योगशक्तिको और परमैश्वर्यरूप विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये,

क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है, अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियोंको प्रधानतासे कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

और हे अर्जुन ! मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु

अर्थात् वामन अवतार और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायु देवताओंमें मरीचि नामक वायुदेवता और नक्षत्रोंमें नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

और मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ और इन्द्रियोंमें मन हूँ, भूत-प्राणियोंमें चेतनता अर्थात् ज्ञानशक्ति हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

और मैं एकादश रुद्रोंमें शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ और मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ तथा शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

और पुरोहितोंमें मुख्य अर्थात् देवताओंका पुरोहित बृहस्पति मेरेको जान तथा हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें

स्वामिकार्तिक और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

और हे अर्जुन ! मैं महर्षियोंमें भृगु और वचनोंमें एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ तथा सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ।२५।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

और सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष और देव-ऋषियोंमें नारदमुनि तथा गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिलमुनि हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

और हे अर्जुन ! तूँ घोड़ोंमें अमृतसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्योंमें राजा मेरेको ही जान ।२७।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥

और हे अर्जुन ! मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ और शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ, सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

तथा मैं नागोंमें* शेषनाग और जलचरोंमें उनका अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरोंमें अर्यमा नामक पित्रेश्वर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

और हे अर्जुन ! मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गिनती करनेवालोंमें समय† हूँ तथा पशुओंमें मृगराज (सिंह) और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

और मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें

---

* नाग और सर्प यह दो प्रकारकी सर्पोंकी ही जाति हैं ।

† क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदिमें जो समय है सो मैं हूँ ।

राम हूँ तथा मछलियोंमें मगरमच्छ हूँ और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गा हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

और हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ तथा मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं परस्परमें विवाद करनेवालोंमें तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

तथा मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व नामक समास हूँ तथा अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल और विराट्स्वरूप सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

हे अर्जुन ! मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और आगे होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण हूँ तथा स्त्रियोंमें

कीर्ति*, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

तथा मैं गायन करने योग्य श्रुतियोंमें बृहत्साम और छन्दोंमें गायत्री छन्द तथा महीनोंमें मार्गशीर्षका महीना और ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।३६।

हे अर्जुन ! मैं छल करनेवालोंमें जुआ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ तथा मैं जीतनेवालों-का विजय हूँ और निश्चय करनेवालोंका निश्चय एवं सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।३७।

और वृष्णिवंशियोंमें† वासुदेव अर्थात् मैं स्वयम्

---

* कीर्ति आदि यह सात देवताओंकी स्त्रियाँ और स्त्रीवाचक नामवाले गुण भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये दोनों प्रकारसे ही भगवान्की विभूतियाँ हैं ।

† यादवोंके ही अन्तर्गत एक वृष्णिवंश भी था ।

तुम्हारा सखा और पाण्डवोंमें धनंजय अर्थात् तूँ एवं मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।३८।

और दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ और गोपनीयोंमें अर्थात् गुप्त रखने योग्य भावोंमें मौन हूँ तथा ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।३९।

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, कि जो मेरेसे रहित होवे, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है ॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं

है, यह तो मैंने अपनी विभूतियोंका विस्तार तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस-उसको तूँ मेरे तेजके अंशसें ही उत्पन्न हुई जान ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ, इसलिये मेरेको ही तत्त्वसे जानना चाहिये ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचन सुनकर अर्जुन बोला, हे भगवन् ! मेरेपर अनुग्रह करनेके लिये, परम गोपनीय, अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश आपके द्वारा जो कहा गया, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हो यह ठीक ऐसा ही है; परंतु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

इसलिये, हे प्रभो !* मेरेद्वारा वह आपका रूप देखा जाना शक्य है, ऐसा यदि मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

इस प्रकार अर्जुनके प्रार्थना करनेपर श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

और हे भरतवंशी अर्जुन ! मेरेमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको और आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको तथा दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख तथा और भी बहुत-से पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय

* उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाला होनेसे भगवान्‌का नाम 'प्रभु' है ।

रूपोंको देख ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन !* अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित हुए चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो देख ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परंतु मेरेको इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेको निःसन्देह समर्थ नहीं है, इसीसे मैं तेरे लिये दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तूँ मेरे प्रभावको और योगशक्तिको देख ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला, हे राजन् ! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्ने इस प्रकार

---

* निद्राको जीतनेवाला होनेसे अर्जुनका नाम 'गुडाकेश' हुआ था ।

कहकर, उसके उपरान्त अर्जुनके लिये परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

और उस अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले एवं बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

तथा दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका अनुलेपन किये हुए एवं सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित, विराट्-स्वरूप, परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः १२

और हे राजन्! आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न हुआ जो प्रकाश होवे, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश

कदाचित् ही होवे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

ऐसे आश्चर्यमय रूपको देखते हुए, पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस कालमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुए अर्थात् पृथक्-पृथक् हुए, संपूर्ण जगत्को, उस देवोंके देव श्रीकृष्णभगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित देखा॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

और उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे युक्त हुआ, हर्षित रोमोंवाला अर्जुन विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके, हाथ जोड़े हुए बोला॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

हे देव ! आपके शरीरमें संपूर्ण देवोंको तथा अनेक

भूतोंके समुदायोंको और कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको तथा महादेवको और संपूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

और हे संपूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ । हे विश्वरूप ! आपके न अन्तको देखता हूँ तथा न मध्यको और न आदिको ही देखता हूँ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

और हे विष्णो ! आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजका

पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमें अति गहन और अप्रमेयस्वरूप सब ओरसे देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

इसलिये, हे भगवन् ! आप ही जानने योग्य परम अक्षर हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं और आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं तथा आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

हे परमेश्वर ! मैं, आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित तथा अनन्त सामर्थ्यसे युक्त और अनन्त

हाथोंवाला तथा चन्द्र, सूर्यरूप नेत्रोंवाला और प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाला तथा अपने तेजसे इस जगत्को तपायमान करता हुआ देखता हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

और हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथिवीके बीचका संपूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त होरहे हैं॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

और हे गोविन्द ! वे सब देवताओंके समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं

तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण होवे' ऐसा कहकर, उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

और हे परमेश्वर ! जो एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य तथा आठ वसु और साध्यगण, विश्वेदेव तथा अश्विनीकुमार और मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगणोंके समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित हुए आपको देखते हैं ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

और हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रों-वाले तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले और बहुत

उदरोंवाले तथा बहुत-सी विकराल जाड़ोंवाले महान् रूपको देखकर, सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशके साथ स्पर्श किये हुए देदीप्यमान अनेक रूपोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर, भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्तिको नहीं प्राप्त होता हूँ ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

और हे भगवन् ! आपके विकराल जाड़ोंवाले और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित मुखोंको देख-

कर दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुखको भी नहीं प्राप्त होता हूँ, इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होवें ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

और मैं देखता हूँ कि, वे सब ही धृतराष्ट्रके पुत्र, राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश करते हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योधाओंके सहित सब-के-सब ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

वेगयुक्त हुए आपके विकराल जाड़ोंवाले भयानक मुखोंमें प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों-

सहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीखते हैं ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

और हे विश्वमूर्ते ! जैसे नदियोंके बहुत-से जल-के प्रवाह, समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र-में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे शूरवीर मनुष्योंके समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

अथवा जैसे पतंग मोहके वश होकर, नष्ट होनेके लिये, प्रज्वलित अग्निमें अति वेगसे युक्त हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह सब लोग भी अपने नाशके लिये, आपके मुखोंमें अति वेगसे युक्त हुए प्रवेश करते हैं ॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

और आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रसन करते हुए सब ओरसे चाट रहे हैं, हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे भगवन् ! कृपा करके मेरे प्रति कहिये कि आप उग्र रूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार होवे, आप प्रसन्न होइये, आदिस्वरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ । इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित हुए योधालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेसे भी इन सबका नाश हो जायगा ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इससे तू खड़ा हो और यशको प्राप्त कर तथा शत्रुओंको जीतकर धनधान्यसे संपन्न राज्यको भोग और यह सब शूरवीर पहिलेसे ही मेरेद्वारा मारे हुए हैं,

हे सव्यसाचिन्!* तूँ तो केवल निमित्तमात्र ही हो जा॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

तथा इन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुतसे मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तूँ मार और भय मत कर। निःसन्देह तूँ युद्धमें वैरियोंको जीतेगा, इसलिये युद्ध कर॥ ३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

इसके उपरान्त संजय बोला कि हे राजन्!

* बायें हाथसे भी बाण चलानेका अभ्यास होनेसे अर्जुनका नाम 'सव्यसाची' हुआ था।

केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी भयभीत हुआ प्रणाम करके, भगवान् श्री-कृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

कि हे अन्तर्यामिन् ! यह योग्य ही है, कि जो आपके नाम और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित होता है और अनुरागको भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षसलोग दिशाओंमें भागते हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें ? क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

और हे प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

और हे हरे ! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों वार नमस्कार, नमस्कार होवे, आपके लिये फिर भी बारम्बार नमस्कार, नमस्कार होवे ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

और हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे। हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

हे परमेश्वर ! सखा ऐसे मानकर आपके इस प्रभावको न जानते हुए मेरे द्वारा प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा गया है ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

और हे अच्युत ! जो आप हँसीके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकोंमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूँ ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

हे विश्वेश्वर ! आप इस चराचर जगत्के पिता

और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अतिशय प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होवे ? ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इससे हे प्रभो ! मैं शरीरको अच्छी प्रकार चरणोंमें रखके और प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! पिता जैसे पुत्रके और सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रिय स्त्रीके, वैसे ही आप भी मेरे अपराध-को सहन करनेके लिये योग्य हैं ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

हे विश्वमूर्ते ! मैं पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय

आपके इस रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये हे देव ! आप उस अपने चतुर्भुजरूपको ही मेरे लिये दिखाइये, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ।४५।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

और हे विष्णो ! मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूपसे युक्त होइये ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार अर्जुनकी प्रार्थनाको सुनकर श्रीकृष्ण

भगवान् बोले, हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योग-शक्तिके प्रभावसे यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट्‌रूप तेरेको दिखाया है, जो कि तेरे सिवाय दूसरेसे पहिले नहीं देखा गया॥ ४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूप-वाला मैं, न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे तथा न दानसे और न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे सिवाय दूसरेसे देखा जानेको शक्य हूँ॥ ४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

इस प्रकारके मेरे इस विकराल रूपको देखकर तेरेको व्याकुलता न होवे और मूढ़भाव भी न होवे और

भयरहित, प्रीतियुक्त मनवाला तूँ उस ही मेरे इस शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसहित चतुर्भुजरूपको फिर देख ॥४९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

उसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन् ! वासुदेव भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे जनार्दन ! आपके इस अतिशान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं

शान्तचित्त हुआ अपने स्वभावको प्राप्त हो गया हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

इस प्रकार अर्जुनके वचनको सुनकर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मेरा यह चतुर्भुजरूप देखनेको अति दुर्लभ है कि जिसको तुमने देखा है, क्योंकि देवता भी सदा इस रूपके दर्शन करनेकी इच्छावाले हैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

और हे अर्जुन ! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ, कि जैसे मेरेको तुमने देखा है॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्यभक्ति*

* अनन्यभक्तिका भाव अगले श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहा है ।

करके तो, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि संपूर्ण कर्तव्यकर्मोको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परम गति मानकर, मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित, निष्काम-भावसे, निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्ति-रहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि संपूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और संपूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है* ऐसा वह अनन्यभक्तिवाला

---

* सर्वत्र भगवत्-बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है ।

पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है ॥५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर अर्जुन बोला, हे मनमोहन ! जो अनन्य प्रेमी भक्तजन इस पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन, ध्यानमें लगे हुए आप सगुणरूप परमेश्वरको अति श्रेष्ठ भावसे उपासते हैं और जो अविनाशी, सच्चिदानन्दघन, निराकारको ही उपासते हैं, उन दोनों प्रकारके भक्तोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन है ? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान्

बोले, हे अर्जुन! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

और जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन, बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं, वे संपूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए और सबमें समान भाव-वाले योगी भी मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

---

* अर्थात् गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ में लिखे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५॥

किंतु उन सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंसे अव्यक्त-विषयक गति, दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें स्थिति होनी कठिन है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

और. जो मेरे परायण हुए भक्तजन संपूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश, अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं* ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७॥

* इस श्लोकका विशेष भाव जाननेके लिये गीता अ० ११ श्लोक ५५ देखना चाहिये ।

हे अर्जुन ! उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तूँ मेरेमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

और यदि तूँ मनको मेरेमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप* योगके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर ॥ ९ ॥

---

* भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वासके द्वारा जप और भगवत्-प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन इत्यादि चेष्टाएँ भगवत्-प्राप्तिके लिये बारम्बार करनेका नाम 'अभ्यास' है ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

और यदि तूँ, ऊपर कहे हुए अभ्यासमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण* हो, इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यदि इसको भी करनेके लिये असमर्थ है, तो जीते हुए मनवाला और मेरी प्राप्तिरूप योगके शरण हुआ सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग† कर ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२

---

* स्वार्थको त्यागकर तथा परमेश्वरको ही परम आश्रय और परमगति समझकर, निष्काम-प्रेमभावसे, सतीशिरोमणि, पतिव्रता स्त्रीकी भाँति मन, वाणी और शरीरद्वारा परमेश्वरके ही लिये यज्ञ, दान और तपादि संपूर्ण कर्तव्य कर्मोंके करनेका नाम 'भगवत्-अर्थ कर्म करनेके परायण होना' है ।

† गीता अ० ९, श्लोक २७ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

क्योंकि मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे परोक्षज्ञान* श्रेष्ठ है और परोक्षज्ञानसे मुझ परमेश्वर-के स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग करना† श्रेष्ठ है और त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष, सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ॥ १३ ॥

---

* सुननेसे और शास्त्रपठन करनेसे परमेश्वरके स्वरूपका जो अनुमान ज्ञान होता है, उसीका नाम 'परोक्षज्ञान' है ।

† केवल भगवत्-अर्थ कर्म करनेवाले पुरुषका भगवत्में प्रेम और श्रद्धा तथा भगवत्का चिन्तन भी बना रहता है, इसलिये ध्यानसे 'कर्मफलका त्याग' श्रेष्ठ कहा है ।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

तथा जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें संतुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

तथा जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयम् भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष*, भय और उद्वेगादिकोंसे रहित है, वह भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

और जो पुरुष आकांक्षासे रहित तथा बाहर-भीतरसे शुद्ध† और चतुर है अर्थात् जिस कामके

* दूसरेकी उन्नतिको देखकर संताप होनेका नाम 'अमर्ष' है ।

† गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले संपूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७॥

और जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मेरेको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८॥

और जो पुरुष, शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है ॥ १८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र* है, ऐसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! तूँ सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मेरेको ही जान† और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो

---

* जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उसके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोये हुए कर्मोंके संस्काररूप बीजोंका फल समयपर प्रकट होता है, इसलिये इसका नाम 'क्षेत्र' ऐसा कहा है ।

† गीता अध्याय १५ श्लोक ७ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये ।

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूलदेहका पिण्ड एवं चेतनता* और धृति† इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित‡ संक्षेपसे कहा गया ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

---

* शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतनशक्ति ।

† गीता अ० १८ श्लोक ३३ से ३५ तक देखना चाहिये ।

‡ पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये ।

और हे अर्जुन ! श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणीमात्रको किसी प्रकार भी न सताना और क्षमाभाव तथा मन, वाणीकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि*, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियों-सहित शरीरका निग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

तथा इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

* सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य वर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर, अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना ...रकी शुद्धि कही जाती है ।

तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिका अभाव और ममताका न होना तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर, हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना॥ ९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

और मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यान-योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

तथा अध्यात्मज्ञानमें† नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए, स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके, श्रद्धा और भावके सहित, परमप्रेमसे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना 'अव्यभिचारिणी' भक्ति है ।

† जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाय उस ज्ञानका नाम 'अध्यात्म' ज्ञान है ।

अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञान* है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान† है ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा, वह आदिरहित, परम ब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है ॥ १२ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

परंतु वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला एवं सब ओर-

---

* इस अध्यायके श्लोक ७ से लेकर यहाँतक जो साधन कहे हैं, वे सब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

† ऊपर कहे हुए ज्ञानके साधनोंसे विपरीत जो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं, वे अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे 'अज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

से नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है* ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

और संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित और गुणोंसे अतीत हुआ भी अपनी योगमायासे सबको धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंको भोगनेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

तथा वह परमात्मा, चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है और

---

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे संपूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

और वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति* एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेके योग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र† तथा ज्ञान‡ और जानने योग्य परमात्माका स्वरूप§ संक्षेपसे कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

और हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी

---

* गीता अ० १५ श्लोक १२ में देखना चाहिये ।
† श्लोक ५-६ में विकारसहित क्षेत्रका स्वरूप कहा है ।
‡ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान अर्थात् ज्ञानका साधन कहा है ।
§ श्लोक १२ से १७ तक ज्ञेयका स्वरूप कहा है ।

माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनोंको ही तूँ अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक संपूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए जान ॥ १९ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

क्योंकि कार्य* और करणके † उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

परंतु प्रकृतिमें‡ स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनका नाम "कार्य" है ।

† बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम "करण" है ।

‡ प्रकृति शब्दका अर्थ गीता अ० ७ श्लोक १४ में कही हुई भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया समझनी चाहिये ।

उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी, बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है* ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता तथा ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा, ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको

---

* सत्त्वगुणके सङ्गसे देवयोनिमें एवं रजोगुणके सङ्गसे मनुष्ययोनिमें और तमोगुणके सङ्गसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है ।

जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है*, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है, अर्थात् पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

हे अर्जुन ! उस परम पुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा † हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके‡ द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्म-

---

* दृश्यमात्र सम्पूर्ण जगत् मायाका कार्य होनेसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी एवं शुद्ध, बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही सनातन अंश है, इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण मायिक पदार्थोंके सङ्गका सर्वथा त्याग करके परम पुरुष परमात्मामें ही एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम उनको 'तत्त्वसे जानना' है ।

† जिसका वर्णन गीता अध्याय ६ में श्लोक ११ से ३२ तक विस्तारपूर्वक किया है ।

‡ जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ११ से ३० तक विस्तारपूर्वक किया है ।

योगके द्वारा देखते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयम् इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं, अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसंदेह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्णको तूँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान, अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति है, वास्तवमें तो सम्पूर्ण जगत् नाशवान् और

---

* जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ४० से अध्याय-समाप्तिपर्यन्त विस्तारपूर्वक किया है ।

क्षणभङ्गुर होनेसे अनित्य है ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।२७।

इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको, समभावसे स्थित देखता है वही देखता है ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित हुए परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात शरीरका नाश होनेसे अपने आत्माका नाश नहीं मानता है, इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्त्वसे समझ लेता है कि प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण

गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

और यह पुरुष जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है तथा उस कालमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा, शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है और न लिपायमान होता है ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र

देहमें स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिपायमान नहीं होता है ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है, अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे सम्पूर्ण जड़वर्ग प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको, जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

* क्षेत्रको जड़, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही 'उनके भेदको जानना' है ।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे अर्जुन ! ज्ञानोंमें भी अति उत्तम परम ज्ञानको मैं फिर भी तेरे लिये कहूँगा, कि जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन-रूप बीजको स्थापन करता हूँ, उस जड़-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तथा हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें प्रकाश करनेवाला, निर्विकार सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे अर्थात् ज्ञानके अभिमानसे बाँधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तथा हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको, कामना और आसक्तिसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको कर्मोंकी और उनके फलकी आसक्तिसे बाँधता है ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

और हे अर्जुन ! सर्व देहाभिमानियोंके मोहनेवाले तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको प्रमाद*, आलस्य† और निद्राके द्वारा बाँधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

* इन्द्रियों और अन्तःकरणकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम 'प्रमाद' है।

† कर्तव्यकर्ममें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है।

क्योंकि, हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञानको आच्छादन करके अर्थात् ढकके, प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

और हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है तथा रजोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है, वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इसलिये जिस कालमें इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस कालमें ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

और हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकारके कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मनकी चञ्चलता और विषय-भोगोंकी लालसा यह सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

तथा हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश एवं कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ यह सब ही उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

और हे अर्जुन ! जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित अर्थात् दिव्य, स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

और रजोगुणके बढ़नेपर, अर्थात् जिस कालमें रजोगुण बढ़ता है उस कालमें मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

क्योंकि सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है और राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

तथा सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद* और मोह† उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी

*-† इसी अध्यायके श्लोक १३ में देखना चाहिये ।

होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

इसलिये सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं* ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष, मेरे

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही 'गुणोंका गुणोंमें बर्तना है' ।

स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

तथा यह पुरुष, इन स्थूल* शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप, तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ, परमानन्दको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

इस प्रकार भगवान्‌के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा कि, हे पुरुषोत्तम ! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है ? और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है ?

* बुद्धि, अहंकार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच इन्द्रियोंके विषय, इस प्रकार इन २३ तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर, प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा है ।

तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको† भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है‡ ॥ २२ ॥

* अन्तःकरण और इन्द्रियादिकोंमें आलस्यका अभाव होकर जो एक प्रकारकी चेतनता होती है, उसका नाम 'प्रकाश' है ।

† निद्रा और आलस्य आदिकी बहुलतासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनशक्तिके लय होनेको यहाँ 'मोह' नामसे समझना चाहिये ।

‡ जो पुरुष एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही नित्य, एकीभावसे स्थित हुआ इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपञ्चरूप संसारसे सर्वथा अतीत हो गया है, उस गुणातीत पुरुषके अभिमानरहित अन्तःकरणमें

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

तथा जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं* ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता है ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ॥ २४ ॥

तीनों गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियोंके प्रकट होने और न होनेपर किसी कालमें भी इच्छा-द्वेष आदि विकार नहीं होते हैं, यही उसके गुणोंसे अतीत होनेके प्रधान लक्षण हैं ।

* इसी अध्यायके श्लोक १९ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके* द्वारा, मेरेको निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको अच्छी प्रकार उल्लङ्घन करके, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

तथा हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका

---

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वासुदेव भगवान्‌को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और भावके सहित, परम प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करनेको 'अव्यभिचारी भक्तियोग' कहते हैं ।

और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एक-रस आनन्दका, मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूँ ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले कि, हे अर्जुन! आदिपुरुष, परमेश्वररूप, मूलवाले*

* आदिपुरुष नारायण वासुदेव भगवान् ही, नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होनेके कारण और सबसे ऊपर नित्यधाममें सगुणरूपसे वास करनेके कारण, ऊर्ध्वनामसे कहे गये हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस संसाररूप वृक्षके कारण हैं, इसलिये इस संसारवृक्षको 'ऊर्ध्वमूलवाला' कहते हैं।

और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले* जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी† कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते‡ कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको, जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है§ ॥ १ ॥

---

* उस आदिपुरुष परमेश्वरसे उत्पत्तिवाला होनेके कारण तथा नित्यधामसे नीचे ब्रह्मलोकमें वास करनेके कारण हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माको, परमेश्वरकी अपेक्षा अधः कहा है और वही इस संसारका विस्तार करनेवाला होनेसे इसकी मुख्य शाखा है, इसलिये इस संसारवृक्षको 'अधःशाखावाला' कहते हैं।

† इस वृक्षका मूल कारण परमात्मा, अविनाशी है तथा अनादिकालसे इसकी परम्परा चली आती है, इसलिये इस संसारवृक्षको 'अविनाशी' कहते हैं।

‡ इस वृक्षकी शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट होनेवाले और यज्ञादिक कर्मोंके द्वारा, इस संसारवृक्षकी रक्षा और वृद्धिके करनेवाले एवं शोभाको बढ़ानेवाले होनेसे, वेद 'पत्ते' कहे गये हैं।

§ भगवान्की योगमायासे उत्पन्न हुआ संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप है, इसके चिन्तनको त्यागकर केवल परमेश्वरका ही नित्य, निरन्तर, अनन्य प्रेमसे चिन्तन करना 'वेदके तात्पर्यको जानना' है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! उस संसारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय* भोगरूप कोंपलों-वाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ† नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्ययोनिमें‡ कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता,

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यह पाँचों, स्थूल देह और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण उन शाखाओंकी 'कोंपलों'के रूपमें कहे गये हैं ।

† मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे, सम्पूर्ण लोकोंके सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिये उनका यहाँ 'शाखाओं'के रूपमें वर्णन किया है ।

‡ अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंको, केवल मनुष्य-योनिमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली कहनेका कारण यह है कि अन्य सब योनियोंमें तो केवल पूर्वकृत कर्मोंके फलको भोगनेका ही अधिकार है और मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंके करनेका भी अधिकार है ।

ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

परन्तु इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता है* क्योंकि न तो इसका आदि है† और न अन्त है‡ तथा न अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है§, इसलिये इस अहंता, ममता

---

* इस संसारका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है और जैसा देखा, सुना जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होनेके उपरान्त नहीं पाया जाता, जिस प्रकार आँख खुलनेके उपरान्त स्वप्नका संसार नहीं पाया जाता ।

† इसका आदि नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबसे चली आती है, इसका कोई पता नहीं है ।

‡ इसका अन्त नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबतक चलती रहेगी, इसका कोई पता नहीं है ।

§ इसकी अच्छी प्रकार स्थिति भी नहीं है, यह कहनेका यह प्रयोजन है कि वास्तवमें यह क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ।

और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप* शस्त्रद्वारा काटकर† ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसारमें नहीं आते हैं और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उस ही आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके ॥ ४ ॥

---

* ब्रह्मलोकतकके भोग क्षणिक और नाशवान् हैं ऐसा समझकर इस संसारके समस्त विषयभोगोंमें सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना ही 'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र' है ।

† स्थावर-जङ्गमरूप यावन्मात्र संसारके चिन्तनका तथा अनादिकालसे, अज्ञानके द्वारा दृढ़ हुई अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका त्याग करना ही संसारवृक्षका अवान्तर 'मूलोंके सहित काटना' है ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी प्रकारसे नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

और उस स्वयम् प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसारमें नहीं आते हैं वही मेरा परमधाम है* ॥ ६ ॥

* 'परमधाम'का अर्थ गीता अध्याय ८ श्लोक २१ में देखना चाहिये ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है* और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित हुई, मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

कैसे कि वायु गन्धके स्थानसे गन्धको, जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिकोंका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है ॥८॥

---

* जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश, घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एकीरूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, इसीसे देहमें स्थित जीवात्माको भगवान्‌ने अपना 'सनातन अंश' कहा है ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

और उस शरीरमें स्थित हुआ यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंको सेवन करता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

परन्तु शरीर छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

क्योंकि योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए, इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है,

युक्त हुआ चार* प्रकारके अन्नको पचाता हूँ ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

और मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हूँ तथा मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन† होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य‡ हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

---

* भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य, ऐसे चार प्रकारके अन्न होते हैं, उनमें जो चबाकर खाया जाता है वह भक्ष्य है जैसे रोटी आदि और जो निगला जाता है वह भोज्य है जैसे दूध आदि तथा जो चाटा जाता है वह लेह्य है जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है वह चोष्य है जैसे ऊख आदि ।

† विचारके द्वारा बुद्धिमें रहनेवाले संशय, विपर्यय आदि दोषोंको हटानेका नाम 'अपोहन' है ।

‡ सर्व वेदोंका तात्पर्य परमेश्वरको जनानेका है इसलिये सब वेदोंद्वारा 'जाननेके योग्य' एक परमेश्वर ही है ।

क्योंकि मैं नाशवान्, जड़वर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।२०।

हे निष्पाप अर्जुन ! ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है अर्थात् उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपना परम गोपनीय प्रभाव भली प्रकारसे कहा है। जो मनुष्य उक्त प्रकारसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेता है, फिर उसका मन एक क्षण भी भगवान्‌के चिन्तनका त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि जिस वस्तुको मनुष्य उत्तम समझता है, उसीमें उसका प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसीका चिन्तन होता है, अतएव सबका मुख्य कर्तव्य है कि भगवान्‌के परम गोपनीय प्रभावको भली प्रकार समझनेके लिये नाशवान्, क्षणभङ्गुर संसारकी आसक्तिका सर्वथा त्याग करके एवं परमात्माके शरण होकर भजन और सत्सङ्गकी ही विशेष चेष्टा करें।

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन! दैवी सम्पदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है तथा

जिनको आसुरी सम्पदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूँ, उनमेंसे सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति* और सात्त्विक दान† तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवत्के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तथा मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय

---

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ स्थितिका ही नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' समझना चाहिये।

† गी० अ० १७ श्लोक २० में जिसका विस्तार किया है।

भाषण*, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तथा तेज†, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि‡ एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें

* अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम 'सत्यभाषण' है ।

† श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम 'तेज' है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

‡ गीता अ० १३ श्लोक ७ की टिप्पणी देखनी चाहिये ।

पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन ! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

और हे पार्थ ! पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

उन दोनों प्रकारकी संपदाओंमें दैवी संपदा तो मुक्तिके लिये और आसुरी संपदा बाँधनेके लिये मानी गयी है, इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी संपदाको प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंके स्वभाव दो प्रकारके माने गये हैं, एक तो देवोंके जैसा और दूसरा असुरोंके जैसा, उनमें देवोंका स्वभाव ही

विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये अब असुरोंके स्वभावको भी विस्तारपूर्वक मेरेसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-कार्यमें प्रवृत्त होनेको और अकर्तव्यकार्यसे निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने-आप स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है इसके सिवाय और क्या है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी, ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

और वे मनुष्य दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओंका आसरा लेकर तथा अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणोंसे युक्त हुए संसारमें वर्तते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

तथा वे मरणपर्यन्त रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंको आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए एवं इतनामात्र ही आनन्द है ऐसे माननेवाले हैं ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

इसलिये आशारूप सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए और

काम-क्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत-से पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

और उन पुरुषोंके विचार इस प्रकारके होते हैं कि मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथको प्राप्त होऊँगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

तथा वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त एवं बलवान् और सुखी हूँ ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।१५।

तथा मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे

समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान देऊँगा, हर्ष-को प्राप्त होऊँगा, इस प्रकारके अज्ञानसे मोहित हैं। १५।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

इसलिये वे अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानीजन मोहरूप जालमें फँसे हुए एवं विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

तथा वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त हुए, शास्त्रविधिसे रहित केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

तथा वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि-के परायण हुए एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष

अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

ऐसे उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बारम्बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ अर्थात् शूकर, कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

इसलिये हे अर्जुन ! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मेरेको न प्राप्त होकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

और हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ यह

तीन प्रकारके नरकके द्वार* आत्माका नाश करनेवाले हैं अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है† इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मेरेको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

और जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे वर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगतिको तथा न सुखको ही प्राप्त होता है।

---

* सर्व अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु होनेसे यहाँ काम, क्रोध और लोभको 'नरकका द्वार' कहा है ।

† अपने उद्धारके लिये भगवत्-आज्ञानुसार वर्तना ही 'अपने कल्याणका आचरण करना' है ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तूँ शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मको ही करनेके लिये योग्य है ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर, अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर, केवल श्रद्धासे युक्त हुए देवादिकोंका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है ? क्या सात्त्विकी है ? अथवा राजसी किंवा तामसी है ? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे अर्जुन ! मनुष्योंकी वह बिना शास्त्रीय संस्कारोंके, केवल स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा,* सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है, उसको तूँ मेरेसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयम् भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

* अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके सञ्चित संस्कारोंसे उत्पन्न हुई श्रद्धा 'स्वभावजा श्रद्धा' कही जाती है ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! जैसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, वैसे ही भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं, उनके इस न्यारे-न्यारे भेदको तूँ मेरेसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले* तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय, ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ तो सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

---

* जिस भोजनका सार शरीरमें बहुत कालतक रहता है, उसको 'स्थिर रहनेवाला' कहते हैं ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

और कड़ुवे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

तथा जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्ध-युक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मनको समाधान करके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ तो सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ केवल दम्भाचरणके ही लिये अथवा फलको भी उद्देश्य रखकर किया जाता है, उस यज्ञको तूँ राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

तथा शास्त्रविधिसे हीन और अन्नदानसे रहित एवं बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

तथा हे अर्जुन ! देवता, ब्राह्मण, गुरु* और ज्ञानीजनोंका पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥

* यहाँ गुरु शब्दसे माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपनेसे जो किसी प्रकार भी बडे हो, उन सबको समझना चाहिये ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

तथा जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है* और जो वेद-शास्त्रोंके पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

तथा मनकी प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरण-की पवित्रता, ऐसे यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

परंतु, हे अर्जुन! फलको न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए, उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको तो सात्त्विक कहते हैं॥ १७ ॥

---

* मन और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहनेका नाम 'यथार्थ भाषण' है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

और जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित* और क्षणिक फलवाला तप, यहाँ राजस कहा गया है॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

और जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

और हे अर्जुन ! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश†, काल‡ और पात्र-

---

* 'अनिश्चित फलवाला' उसको कहते हैं कि जिसका फल होने-न-होनेमें शङ्का हो ।

†-‡ जिस देश-कालमें जिस वस्तुका अभाव हो, वही देश-काल, उस वस्तुद्वारा प्राणियोंकी सेवा करनेके लिये योग्य समझा जाता है।

के* प्राप्त होनेपर, प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्त्विक कहा गया है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

और जो दान क्लेशपूर्वक† तथा प्रत्युपकारके प्रयोजन अर्थात् बदलेमें अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करनेकी आशासे अथवा फलको उद्देश्य रखकर‡ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

---

* भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न-वस्त्र और ओषधि एवं जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तुद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकारके पदार्थोंद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं ।

† जैसे प्रायः वर्तमान समयके चन्दे-चिट्ठे आदिमें धन दिया जाता है ।

‡ अर्थात् मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगादिकी निवृत्तिके लिये ।

और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देशकालमें कुपात्रोंके लिये अर्थात् मद्य-मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेवालों एवं चोरी, जारी आदि नीच कर्म करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥२२॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

और हे अर्जुन ! ॐ, तत्, सत् ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदको कथन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत की हुई यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' ऐसे इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

और तत् अर्थात् तत् नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है, ऐसे इस भावसे फलको न चाहकर, नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

और सत् ऐसे यह परमात्माका नाम सत्य भावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है ।२६।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी सत् है, ऐसे कही जाती है और उस परमात्माके अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है, ऐसे कहा जाता है ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

और हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् ऐसे कहा जाता है, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके पीछे ही लाभदायक है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्कामभावसे केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परम श्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे अर्जुन ! कितने ही पण्डितजन तो काम्य-कर्मोंके* त्यागको संन्यास जानते हैं और कितने ही विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको† त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

---

* स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'काम्यकर्म' है ।

† ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविका-द्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्य-कर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोककी सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागका नाम 'सब कर्मोंके फलका त्याग' है ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

तथा कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् ऐसे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥ ४ ॥

परंतु हे अर्जुन ! उस त्यागके विषयमें तूँ मेरे निश्चयको सुन, हे पुरुषश्रेष्ठ वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीनों प्रकारका ही कहा गया है ॥४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेके योग्य नहीं है; किन्तु वह निःसन्देह करना कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप यह तीनों ही बुद्धिमान् पुरुषोंको* पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

* वह मनुष्य 'बुद्धिमान्' है जो कि फल और आसक्तिको त्यागकर केवल भगवत्-अर्थ कर्म करता है ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

इसलिये हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्यागकर, अवश्य करने चाहिये ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! नियत कर्मका* त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिये मोहसे उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

और यदि कोई मनुष्य, जो कुछ कर्म है, वह सब ही दुःखरूप है ऐसे समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग कर दे तो वह पुरुष उस राजस त्यागको करके भी त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता

---

*इसी अ० के श्लोक ४८की टिप्पणीमें इसका अर्थ देखना चाहिये ।

है अर्थात् उसका वह त्याग करना व्यर्थ ही होता है॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

और हे अर्जुन ! करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही जो शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्तिको और फलको त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है अर्थात् कर्तव्य कर्मों-को स्वरूपसे न त्यागकर उनमें जो आसक्ति और फल-का त्यागना है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष अकल्याणकारक कर्मसे तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्ममें आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हुआ पुरुष संशयरहित ज्ञानवान् और त्यागी है॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

क्योंकि देहधारी पुरुषके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्म

त्यागे जानेको शक्य नहीं हैं, इससे जो पुरुष कर्मोंके फलका त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसे कहा जाता है ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

तथा सकामी पुरुषोंके कर्मका ही अच्छा-बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् भी होता है और त्यागी* पुरुषोंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता; क्योंकि उनके द्वारा होनेवाले कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

और हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें यह पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्तमें कहे गये हैं, उनको तूँ मेरेसे भली प्रकार जान ॥ १३ ॥

---

* सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंमें फल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानको जिसने त्याग दिया है, उसीका नाम 'त्यागी' है ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

हे अर्जुन ! इस विषयमें आधार* और कर्ता तथा न्यारे-न्यारे करण† और नाना प्रकारकी न्यारी-न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव‡ कहा गया है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रके अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उसके यह पाँचों ही कारण हैं ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

* जिसके आश्रय कर्म किये जायँ, उसका नाम 'आधार' है ।

† जिन-जिन इन्द्रियादिकोंके और साधनोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'करण' है ।

‡ पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका नाम 'दैव' है ।

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि* होनेके कारण, उस विषयमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता देखता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं देखता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

और हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें मैं कर्ता हूँ, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है †॥ १७॥

---

* सत्सङ्ग और शास्त्रके अभ्याससे तथा भगवत्-अर्थ कर्म और उपासनाके करनेसे मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिये जो उपरोक्त साधनोंसे रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिये ।

† जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसारके हितके लिये ही जिसकी संपूर्ण क्रियाएँ

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

तथा हे भारत ! ज्ञाता*, ज्ञान† और ज्ञेय‡ यह तीनों तो कर्मके प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता§, करण× और क्रिया+ यह तीनों कर्मके संग्रह हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे कर्म बनता है ॥ १८ ॥

होती है, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता है ।

* जाननेवालेका नाम 'ज्ञाता' है ।

† जिसके द्वारा जाना जाय, उसका नाम 'ज्ञान' है ।

‡ जाननेमें आनेवाली वस्तुका नाम 'ज्ञेय' है ।

§ कर्म करनेवालेका नाम 'कर्ता' है ।

× जिन साधनोंसे कर्म किया जाय, उनका नाम 'करण' है ।

\+ करनेका नाम 'क्रिया' है ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९॥

उन सबमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्यशास्त्रमें तीन-तीन प्रकारसे कहे गये हैं, उनको भी तूँ मेरेसे भली प्रकार सुन ॥ १९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।२०।

हे अर्जुन ! जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तूँ सात्त्विक जान ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य संपूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञान-को तूँ राजस जान ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही संपूर्णताके सदृश आसक्त है, अर्थात् जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरको ही आत्मा मानकर, उसमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्तिवाला, तत्त्व-अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलको न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषसे किया हुआ है, वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त है तथा

फलको चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है ॥ २५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते २६

तथा हे अर्जुन ! जो कर्ता आसक्तिसे रहित और अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त एवं कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष, शोकादि विकारोंसे रहित है, वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

और जो आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे

लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला, शिक्षासे रहित घमण्डी, धूर्त और दूसरेकी आजीविकाका नाशक एवं शोक करनेके स्वभाववाला, आलसी और दीर्घसूत्री* है, वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

तथा हे अर्जुन ! तूँ बुद्धिका और धारणशक्तिका भी गुणोंके कारण तीन प्रकारका भेद सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक मेरेसे कहा हुआ सुन ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

---

* 'दीर्घसूत्री' उसको कहा जाता है कि जो थोड़े कालमें होने लायक साधारण कार्यको भी फिर कर लेंगे, ऐसी आशासे बहुत कालतक नहीं पूरा करता ।

हे पार्थ ! प्रवृत्तिमार्ग* और निवृत्तिमार्गको† तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको एवं भय और अभय-को तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि तत्त्वसे जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

और हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

और हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे आवृत हुई बुद्धि अधर्मको धर्म ऐसा मानती है तथा और भी संपूर्ण अर्थोंको विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

---

* गृहस्थमें रहते हुए फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदर्पणबुद्धिसे केवल लोकशिक्षाके लिये राजा जनककी भाँति बर्तनेका नाम 'प्रवृत्तिमार्ग' है।

† देहाभिमानको त्यागकर केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हुए श्रीशुकदेवजी और सनकादिकोंकी भाँति संसारसे उपराम होकर विचरनेका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

और हे पार्थ ! ध्यानयोगके द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणासे* मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको† धारण करता है, वह धारणा तो सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

और हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य अति आसक्तिसे जिस धारणाके द्वारा धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणा राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

---

* भगवत् विषयके सिवाय अन्य सांसारिक विषयोंको धारण करना ही व्यभिचार-दोष है उस दोषसे जो रहित है, वह 'अव्यभिचारिणी धारणा' है ।

† मन, प्राण और इन्द्रियोंको भगवत्-प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान और निष्काम कर्मोंमें लगानेका नाम 'उनकी क्रियाओंको धारण करना' है ।

तथा हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य, जिस धारणाके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको एवं उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

हे अर्जुन ! अब सुख भी तू तीन प्रकारका मेरेसे सुन, हे भरतश्रेष्ठ ! जिस सुखमें साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

वह सुख प्रथम साधनके आरम्भकालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है* परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये जो भगवत्-विषयक बुद्धिके प्रसादसे

* जैसे खेलमें आसक्तिवाले बालकको, विद्याका अभ्यास मूढताके कारण, प्रथम विषके तुल्य भासता है, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिवाले पुरुषको भगवत्-भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनोंका अभ्यास, मर्म न जाननेके कारण, प्रथम विषके सदृश भासता है ।

उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है॥ ३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८॥

और जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है। परन्तु परिणाममें विषके सदृश* है। इसलिये वह सुख राजस कहा गया है॥ ३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९॥

तथा जो सुख भोगकालमें और परिणाममें भी आत्माको मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है॥ ३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४०॥

और हे अर्जुन! पृथिवीमें या स्वर्गमें अथवा

---

* बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखको 'परिणाममें विषके सदृश' कहा है।

देवताओंमें, ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है, कि जो इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए, तीनों गुणोंसे रहित हो, क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी माया-का ही विकार है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

इसलिये, हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके भी कर्म, स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंकरके विभक्त किये गये हैं, अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभक्त किये गये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

उनमें अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि*, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका

* गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

अनुभव भी, ये तो ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

और शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें भी न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव अर्थात् निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर, शास्त्राज्ञानुसार शासनद्वारा, प्रेमके सहित पुत्रतुल्य प्रजाको पालन करनेका भाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।४३।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

तथा खेती, गौपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य-व्यवहार* ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सब वर्णों-

---

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर, उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी

की सेवा करना, यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।४४।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

एवं इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य भगवत्-प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकारसे अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तूँ मेरेसे सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है*, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूज-

---

और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है, उसका नाम 'सत्यव्यवहार' है ।

* जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार सच्चिदानन्दघन परमात्मासे व्याप्त है ।

कर*, मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

इसलिये, अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त भी स्वाभाविक† कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धुएँसे अग्निके

---

* जैसे पतिव्रता स्त्री पतिको ही सर्वस्व समझकर पतिका चिन्तन करती हुई पतिके आज्ञानुसार पतिके ही लिये, मन, वाणी, शरीरसे कर्म करती है, वैसे ही परमेश्वरको ही सर्वस्व समझकर परमेश्वरका चिन्तन करते हुए, परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार मन, वाणी और शरीरसे परमेश्वरके ही लिये स्वाभाविक कर्तव्य कर्मका आचरण करना 'कर्मद्वारा परमेश्वरको पूजना' है ।

† प्रकृतिके अनुसार शास्त्रविधिसे नियत किये हुए, जो वर्णाश्रमके धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही यहाँ 'स्वधर्म', 'सहजकर्म', 'स्वकर्म', 'नियतकर्म,' 'स्वभावज कर्म,' 'स्वभावनियतकर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है ।

सदृश सब ही कर्म किसी-न-किसी दोषसे आवृत हैं॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

तथा हे अर्जुन! सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् क्रियारहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जैसे सांख्ययोगके द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है, तथा जो तत्त्व-ज्ञानकी परानिष्ठा है, उसको भी तूँ मेरेसे संक्षेपसे जान ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

हे अर्जुन! विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला तथा मिताहारी*, जीते हुए मन, वाणी, शरीरवाला और दृढ़ वैराग्यको भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष, निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ, सात्त्विक धारणासे†, अन्तःकरणको वशमें करके तथा शब्दादिक विषयोंको त्यागकर और रागद्वेषोंको नष्ट करके ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर, ममतारहित और शान्त अन्तःकरण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

फिर वह, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ, प्रसन्न चित्तवाला पुरुष, न तो किसी

* हल्का और अल्प आहार करनेवाला ।
† अ० १८ श्लोक ३३ में जिसका विस्तार है ।

वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है एवं सब भूतोंमें समभाव हुआ*, मेरी पराभक्तिको† प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

और उस पराभक्तिके द्वारा, मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा उस भक्तिसे मेरेको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मेरेमें प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे मेरेको प्राप्त हो जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो

---

* गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये ।

† जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, वही यहाँ 'पराभक्ति' 'ज्ञानकी परानिष्ठा', 'परम नैष्कर्म्य सिद्धि' और 'परम सिद्धि' इत्यादि नामोंसे कही गयी है ।

*

सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके*, मेरे परायण हुआ, समत्व बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

इस प्रकार तूँ मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ, मेरी कृपासे जन्म, मृत्यु आदि सब सङ्कटोंको अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

* गीता अ० ९ श्लोक २७ में जिसकी विधि कही है ।

और जो तूँ अहंकारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

और हे अर्जुन ! जिस कर्मको तूँ मोहसे नहीं करना चाहता है, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

इसलिये हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी

ही अनन्य शरणको* प्राप्त हो । उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है । इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके, फिर तूँ जैसे चाहता है वैसे ही कर अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो, वैसे ही कर ॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

---

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर एवं शरीर और संसारमें अहंता, ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक, निरन्तर भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये आचरण करना, यह 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्य शरण' होना है ।

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर नहीं मिलनेके कारण श्रीकृष्णभगवान् फिर बोले कि, हे अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तूँ फिर भी सुन, क्योंकि तूँ मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परमहितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

हे अर्जुन ! तूँ केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित, निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मुझ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट,कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर-वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ

सर्वशक्तिमान् विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्ति-सहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तूँ मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तूँ मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इसलिये सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रय-को त्यागकर, केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको* प्राप्त हो। मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तूँ शोक मत कर ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार तेरे हितके लिये कहे हुए

* इसी अध्यायके श्लोक ६२ की टिप्पणीमें 'अनन्यशरण' का भाव देखना चाहिये ।

इस गीतारूप परम रहस्यको किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्ति* रहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छावालेके ही प्रति कहना चाहिये एवं जो मेरी निन्दा करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये; परंतु जिनमें यह सब दोष नहीं हों, ऐसें भक्तोंके प्रति प्रेमपूर्वक उत्साहके सहित कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

क्योंकि जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके, इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य

---

* वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनोंमें श्रद्धा, प्रेम और पूज्यभावका नाम 'भक्ति' है ।

करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

तथा हे अर्जुन ! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे* पूजित होऊँगा ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

तथा जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ इस गीताशास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त हुआ, उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

इस प्रकार गीताका माहात्म्य कहकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अर्जुनसे पूछा, हे पार्थ !

---

* गीता अ० ४ श्लोक ३३ का अर्थ देखना चाहिये।

क्या यह मेरा वचन तैंने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।७३।

इस प्रकार भगवान्‌के पूछनेपर अर्जुन बोला, हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा पालन करूँगा ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन् ! इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त और रोमाञ्चकारक संवादको सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।७५।

कैसे कि, श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टिद्वारा मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योगको साक्षात्

कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णभगवान्से सुना है ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

इसलिये हे राजन्! श्रीकृष्णभगवान् और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं वारम्बार हर्षित होता हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

तथा हे राजन्! श्रीहरिके* उस अति अद्भुत रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं वारम्बार हर्षित होता हूँ ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

हे राजन्! विशेष क्या कहूँ, जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्णभगवान् हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है ऐसा मेरा मत है ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

---

* जिसका स्मरण करनेसे पापोंका नाश होता है, उसका नाम 'हरि' है ।

"श्रीमद्भगवद्गीता" यह एक परम रहस्यका विषय है। इसको परम कृपालु श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको निमित्त करके सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है। परंतु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते हैं कि जो भगवान्के शरण होकर श्रद्धाभक्तिसहित इसका अभ्यास करते हैं, इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धाभक्तिसहित सदा इसका श्रवण, मनन और पठन-पाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्के आज्ञानुसार साधनमें लग जायँ। क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धाभक्तिसहित इसका मर्म जाननेके लिये इसके अन्तर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं, एवं भगवत्-आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके अन्तःकरणमें प्रतिदिन नये-नये सद्भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण हुए शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

त्यागसे भगवत्-प्राप्ति *

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये "त्याग" ही मुख्य साधन है। अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना। यह पहिली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना* यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग ।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्-प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना । यह तीसरी श्रेणीका त्याग है ।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग ।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव

* यदि कोई, लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो, परंतु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है ।

हैं उन सबका त्याग करना* यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीर-सम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना।

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन-पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना।

---

* यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीर-सम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिके द्वारा किये हुए की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदि द्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एव लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग ।

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभङ्गुर नाशवान् और भगवान्‌की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्‌से प्रार्थना करना और न मनमें इच्छा ही रखना । तथा किसी प्रकारका सङ्कट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना, अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ, परंतु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलङ्क लगाना उचित नहीं है । जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्ट-निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की । अपना अनिष्ट करनेवालों-को भी, "भगवान् तुम्हारा बुरा करे" इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे सराप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना । भगवान्‌की भक्तिके अभिमानसे आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि "भगवान् तुम्हें आरोग्य करें," "भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें," "भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें" इत्यादि ।

पत्र-व्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे "अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै", "ठाकुरजी बिक्री चलासी," ठाकुरजी वर्षा करसी," "ठाकुरजी आराम करसी" इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करने-

के रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्रायः लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर "श्रीपरमात्मादेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं", "श्रीपरमेश्वरका भजन सार है" इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने, बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओंको पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़, बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजी-का पूजन करके "श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी", "भण्डार भरपूर राखसी", "ऋद्धि-सिद्धि करसी", "श्रीकाली-जीके आसरे", "श्रीगङ्गाजीके आसरे" इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर "श्रीलक्ष्मी-नारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं" तथा

"बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया" इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़ नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसे ही लिखना ।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग ।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों, उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है, इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्कामभावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना ।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग ।

पञ्च महायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा संपूर्ण जीवोंको यथायोग्य

* पञ्च महायज्ञ यह हैं—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, संध्या, गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव) ।

सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्र-विहित कर्मोंमें इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित, उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार, केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थनिर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य आदि कहे हैं, वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रमें विधान किये गये हों, उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-हानिको समान समझते हुए, सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपरोक्त कर्मोंका करना*।

---

* उपरोक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका दोष नहीं आ सकता; क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है, उसी

(छ) शरीरसंबन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीरनिर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसंबन्धी कर्म हैं, उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख, दुःख, लाभ, हानि और जीवन, मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार संपूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्-प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहिली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(६) संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें समता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, भवन और वस्त्रादि संपूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि संपूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषय-भोगरूप पदार्थ हैं उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान्

प्रकार अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार संपूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्काम भावसे ही संपूर्ण कर्मोंका आचरण करे।

होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है* ।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषयभोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका

* संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया, परन्तु उपरोक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है, जैसे भजन, ध्यान और सत्सङ्गके अभ्याससे भरतमुनिका संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालनरूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही। इसलिये संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है।

एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता । एवं उनके द्वारा संपूर्ण कर्तव्य कर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं ।

इस प्रकार संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये ।

(७) संसार, शरीर और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग

संसारके संपूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है; ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना यह सातवीं श्रेणीका त्याग है* ।

---

* संपूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्व-अभिमान शेष रह जाता है, इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको सातवीं श्रेणीका त्याग कहा है ।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप परवैराग्यको* प्राप्त हुए पुरुषोंके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ संपूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते, क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य भावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें संपूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व ६, निष्कपटता, शौच ७,

---

* पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परन्तु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं, इसलिये इस त्यागको परवैराग्य कहा है।

१ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

२ अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसे-का वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

३ चोरीका सर्वथा अभाव।

४ आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव।

५ किसीकी भी निन्दा न करना।

६ सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

७ बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग, द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना भीतरकी शुद्धि कहलाती है)।

सन्तोष १, तितिक्षा २, सत्सङ्ग, सेवा, यज्ञ, दान, तप ३, स्वाध्याय ४, शम ५, दम ६, विनय, आर्जव ७, दया ८, श्रद्धा ९, विवेक १०, वैराग्य ११, एकान्तवास, अपरिग्रह १२, समाधान १३, उपरामता, तेज १४, क्षमा १५, धैर्य १६,

१ तृष्णाका सर्वथा अभाव ।

२ शीत, उष्ण, सुख, दुःखादि द्वन्द्वोंका सहन करना ।

३ स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना ।

४ वेद और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन ।

५ मनका वशमें होना ।

६ इन्द्रियोंका वशमें होना ।

७ शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ।

८ दुखियोंमें करुणा ।

९ वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास ।

१० सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान ।

११ ब्रह्मलोकतकके संपूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।

१२ ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव ।

१३ अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव ।

१४ श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

१५ अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना ।

१६ भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना ।

अद्रोह १, अभय २, निरहंकारता, शान्ति ३ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है, इस प्रकार शरीरसहित संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपरोक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहिली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं; परंतु संपूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है। क्योंकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें हेतु हैं इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान्‌ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३वें अध्यायमें (श्लोक ७ से ११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६वें अध्यायमें (श्लोक १ से ३ तक) दैवी संपदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है। इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है, अतएव

---

१ अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना।

२ सर्वथा भयका अभाव।

३ इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

उपरोक्त सद्गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्‌के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये ।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्-प्राप्तिका होना कहा गया है । उनमें पहिली पाँच श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्याग-तक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं । उक्त तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है । फिर उसका इस क्षणभङ्गुर, नाशवान् अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता । यद्यपि लोकदृष्टिमें उन ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे संपूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है । क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे

पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं, परंतु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है। इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है। क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है, इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें संपूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। अतएव

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ ४ ॥

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ५ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ६ ॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ७ ॥